सत्यान्वेषी एकादश

(अध्यात्म-समाजवाद, वर्ण, जाति, हरिजन मन्दिर
प्रवेश आदि पर जैन दृष्टिकोण)

पं. फूलचन्द्र शास्त्री

सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र शास्त्री फाउंडेशन
रुड़की - २४७ ६६७

प्रकाशक :
सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचंद्र शास्त्री फाउंडेशन
रुड़की – २४७ ६६७

■

वी.नि.सं. २५२४
प्रथम सस्करण ११००

■

मूल्य ६० रूपये

मुद्रक :
अजय प्रिन्टर्स एवम् पब्लिशर्स
१६, सिविल लाईन्स (निकट शताब्दी द्वार)
रुड़की – २४७ ६६७, भारत

Truth-Seeking Eleven Essays

(Spiritual-Socialism, Caste, Creed, Untouchables etc. from a Jain View)

PANDIT PHOOLCHANDRA SHASTRI

SIDHANTACHARYA
PANDIT PHOOLCHANDRA SHASTRI
FOUNDATION
ROORKEE - 247 667 (INDIA)

Publisher :
Sidhantacharya Pt. Phoolchandra Shastri Foundation
Roorkee - 247 667

Year 1998 A.D.
Vir Nirvana Samvat 2524
First Edition 1100

Price : Rs. 60
US $ 10

दो शब्द

स्वर्गीय पं. जी द्वारा लिखित कुछ चुने हुये निबन्धों का यह संग्रह पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुये मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। इसके दो कारण हैं – एक तो यह कि सभी निबन्ध लगभग ५० वर्ष पूर्व लिखे गये थे अर्थात् भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद के वर्षों में। अतः स्वतन्त्रता की स्वर्णजयन्ती मनाते हुये अतीत में झाँक कर यह देखने की आवश्यकता है कि उस समय की क्या समस्यायें थीं और आज हम कहाँ तक आ पहुँचे हैं। दूसरा कारण यह है कि स्व. पं. जी को जैन दर्शन के एक अति विशिष्ट विद्वान के रूप में ही मान्यता प्राप्त है। इन निबन्धों से उनके विद्रोही एवं सजग रचनाकार का रूप सामने आता है। यह अत्यन्त सुखद् आश्चर्य की बात है कि जैन दर्शन के मूलभूत सिद्धांतों को आत्मसात करते हुये, उनके परिप्रेक्ष्य में उन्होंने जो विचार तथा अवधारणायें प्रस्तुत की हैं, वे आज भी उतनी ही समीचीन हैं। जाति पाँति, हरिजन मंदिर प्रवेश, आर्थिक विषमताओं को लेकर उन्होंने अपनी कलम से अनेक समस्यायों का स्थायी हल सुझाया है। आज से ५० वर्ष पूर्व समाजवाद तथा पूजीवाद दोनों को विसंगतियों से युक्त बतलाते हुये, उन्होंने अध्यात्म–समाजवाद जैसी नयी अवधारणा को जन्म दिया। यह आज और भी प्रासंगिक प्रतीत होती है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा. रोजर पेनरोज कहते हैं कि "आज जब भी हम समाचार पत्रों या टेलीविजन पर दृष्टि डालते हैं, तो मानव समुदाय का मूर्खतापूर्ण आचरण लगातार मानव मूल्यों को रौंदते हुये दिखाई देता है। छोटे–बड़े देश तथा प्रान्त एक दूसरे से इस प्रकार भिड़े रहते हैं कि हर–समय युद्ध जैसी स्थितियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। धार्मिक उन्माद, अति राष्ट्रवाद, भाषा अथवा प्रान्तीय मतभेद के आधार पर छोटे–छोटे समूह अपने सकीर्ण तथा क्षुद्र हितों की रक्षा में संलग्न रहते हुये लगातार अशान्ति तथा हिसा को जन्म देते रहते हैं। अनेक तानाशाह अथवा सैनिक व्यवस्थायें अपने ही देशवासियो को पैरों तले दबाकर रखने में जुटी रहती है। कितने आश्चर्य की बात है कि सताये गये लोगों के समूह, एक दूसरे से सहयोग करने के स्थान पर, सदा लड़ने में ही मशगूल रहते हैं। यदि उन्हें सदियों के कुशासन से स्वतन्त्रता भी मिल जाती है तो वे उस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करते हुये स्वयं को नष्ट करने के अनेक घिनौने ढंग अपना लेते हैं।"

इन शब्दों में भारत की वर्तमान दुर्दशा की पूरी झलक दिखायी देती है। जिन

कारणो से यह देश सैकडो वर्षो तक गुलाम रहा, वे सभी कारण आज मुँह बाये इसको लील जाने के लिये तैयार हैं। क्या कारण है कि स्वतन्त्रता के पहले तो हमे गाँधी, नेहरू, पटेल और उन जैसे अनेक अनूठे व्यक्तित्व मिले तथा अनेकानेक क्रान्तिकारी युवा मिले, परन्तु स्वतन्त्रता के बाद भ्रष्ट नेताओ की एक श्रखला प्राप्त हुई। अफसरशाही तो इतनी भ्रष्ट तथा निकम्मी हो गयी कि लोग अग्रेज शासको को भी अच्छा कहने लगे।

साधारणतया लोग इस स्थिति का दोषी केवल राजनेताओं तथा अफसरो को मान लेते है तथा स्वय पाक–साफ हो कर बैठ जाते है। परन्तु इस सारी स्थिति के दोषी हम स्वय हैं। ये सभी नेता तथा अफसर हमारे बीच के ही लोग हैं। इन्हे पैदा भी हम कर रहे है तथा प्रश्रय भी हम ही दे रहे है । तथाकथित धार्मिक नेताओ ने धर्म के नाम पर तथा राज नेताओ ने अन्य प्रलोभनो के द्वारा इस देश की जनता को निकम्मा बनाने के अनेक उपाय कर रखे है। वे कहते है कि तुम हमारे भगवान के आगे हाथ जोडो या हमे वोट दो और तुम्हारी सारी समस्याये दूर हो जायेगी। हम स्वावलबी बनने की ओर उन्मुख न होकर लगातार बगले झाँकते रहते है कि कोई आयेगा और कुछ दे जायेगा। स्वावलबन तथा व्यक्ति–स्वातन्त्र्य की सस्कृति को आज के युग मे आत्मसात किये बिना समस्यायो का आमूल निराकरण सभव नही, ऐसा स्व. प. जी का मानना था।

हमारे अग्रज तथा फाउडेशन की प्रबन्धकारिणी के मत्री डा प्रेमचन्द जैन, हिन्दी के उत्कृष्ट विद्वान होने के साथ–साथ एक स्वावलबी व्यक्तित्व है। उन्होने इन निबन्धो पर अपनी विशेष समीक्षा प्रस्तुत की है, इसके लिये हम उनके विशेष आभारी है। आशा है कि ये निबन्ध विशेष चर्चा का विषय बनेगे तथा आज की सामाजिक तथा राजनीतिक धुध मे उचित मार्ग देखने मे सहायक होगे।

२०३/५,सरस्वती कुज
रुडकी विश्वविद्यालय
रुडकी – २४७ ६६७

अशोक कुमार जैन
१५ जनवरी १९९८

सत्यान्वेषी दृष्टि

'साहित्यरूप की दृष्टि से हिन्दी में निबन्ध का जन्म और विकास आधुनिक युग की देन है। राष्ट्रीय जागरण की स्फूर्ति, उत्साह, उमंग, देशप्रेम, जनवाद, व्यक्ति–स्वातन्त्र्य, अन्तर्राष्ट्रीयता, वैज्ञानिक कलाओं का प्रयोग, आवश्यकताओं की वृद्धि, गद्य का प्रचलन, मुद्रण कला का प्रचार, समाचार पत्रों का प्रकाशन और उनके माध्यम से लेखक और पाठक में आत्मीय सम्बन्ध की स्थापना, अंग्रेजी साहित्य का सम्पर्क आदि अनेक कारणों से साहित्य के अनेक रूपों के साथ निबन्धरूप का भी आविर्भाव हुआ '(हिन्दी साहित्य कोश भाग १ पृ० ४४६) सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री के प्रस्तुत संकलन के ये चिन्तनपरक एवं विचारोत्तेजक निबन्ध, छठे दशक के निबन्ध हैं। जैनागमों के गूढ़ विषयों पर गहन अध्ययन, षट्खण्डागम आदि अनेक प्राचीन प्राकृत संस्कृत ग्रन्थों के सम्पादन, अनुवाद और विवेचन जैसे बुद्धिगम्य–श्रमसाध्य कार्यों से पंडित जी जैन विद्वानों की प्रथम पंक्ति में पहुँचे थे। स्वावलम्बन, स्वाध्याय और स्वाभिमान उनके मूलमन्त्र थे। जिनवाणी का प्रचार–प्रसार उनका लक्ष्य था। सिद्धान्त के प्रतिपादन में निर्भीकता उनका स्वभाव था। अतएव स्वतन्त्र लेखन को ही उन्होंने अपनी आजीविका का साधन बनाया था। जैन साहित्य, सस्कृति एव समाज की सेवा से उन्हें सुख्याति मिली। जीवन में यदि कुछ विवाद और बाधाओ ने सिर उठाया तो उन्होंने अपने पाण्डित्य एवं विवेक से उन्हें शमन किया। खानियां तत्त्व चर्चा के दौरान लगभग दो माह उनके मदैनी स्थित निवास पर उनके पास एक घंटे बैठता था। वे मुझे 'डिक्टेशन' देते थे। मैं लिखता जाता था। मैं उनके पाण्डित्य, निश्छलता और विद्यार्थियों के प्रति वात्सल्य से प्रभावित था। यहाँ इस बात के उल्लेख करने का मेरा उद्देश्य इतना भर है कि मैं जैन पत्र–पत्रिकाओं को पढकर अथवा पंडितजी द्वारा सम्पादित, अनूदित जैन ग्रन्थों को देखकर यही सोच मन में बसाए रहा कि पंडित जी प्राकृत–संस्कृत जैन ग्रन्थों और जैन–सिद्धान्त के मर्मज्ञ आधिकारिक विद्वान हैं। 'वर्ण, जाति और धर्म' शीर्षक पुस्तक भी उन्हीं दिनों देखने को मिल गई थी। उन दिनों यह चर्चित भी हुई। पिछले दिनों जब उनके पुत्र डॉ० अशोक कुमार जैन ने पंडित जी द्वारा लिखित विविध सामाजिक, सांस्कृतिक विषयों पर हिन्दी के कुछ निबन्ध पढ़ने को दिए थे, उन्हें पढ़कर मुझे सुखद आश्चर्य हुआ कि जैन सिद्धान्त से विचलित हुए बिना पंडित जी ने गाँधी, मार्क्स, कवीन्द्र रवीन्द्र, डॉ० अम्बेडकर आदि दार्शनिकों–नेताओं के उद्धरणों पूर्वक अपने विचारोत्तेजक निबन्धों को प्राणवान बनाया है। गद्य को कवियों का निकष कहा गया है। इसमें भी

निबन्ध का गद्य लिखना दुरूह कार्य है। जिसने भी हिन्दी के आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की चिन्तामणि और डॉ० सम्पूर्णानन्द के चिद्विलास तथा अन्य आचार्यों के निबन्धों को पढ़ा है, वे पंडित जी के निबन्धों को पढ़कर उन्हीं निबन्धकारों के समकक्ष पायेंगे।

दरअसल एक जाग्रत रचनाकार धर्म, संस्कृति, साहित्य, इतिहास आदि सब पर अपनी बेबाक राय रखता है। यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि सि०पं० फूलचन्द्र शास्त्री जाग्रत रचनाकार थे। पाठक उनके निबन्धों में उनकी बेबाक राय से रूबरू हो सकते हैं। प्रस्तुत संकलन में 'जैनधर्म और वर्णव्यवस्था' शीर्षक निबन्ध में लेखक ने न केवल जैन–दृष्टिकोण की व्याख्या की है, अपितु वैदिक काल से लेकर भारतवर्ष के स्वराज्य प्राप्ति के बाद तक की स्थिति का विवेचन और मूल्यांकन किया हैं।प्राचीन काल से चली आई श्रमण एवं ब्राह्मण संस्कृतियों के अस्तित्व की चर्चा के साथ–साथ वर्ण, जाति और धर्म की ग्राह्य व्याख्या भी की गई है। रूढ़िवादी जैन अपने को हिन्दू न माने जाने का दुराग्रह क्यों करते हैं ? इस प्रश्न का सटीक उत्तर भी इस निबन्ध में है। किसी भी जाति अथवा मानव को अस्पृश्य माने जाने के विरुद्ध प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण निबन्धकार के अध्ययन का प्रमाण होने के साथ–साथ जनोपकारक भी हैं। निबन्ध में महात्मा गाँधी, डॉ० अम्बेडकर के नामों का उल्लेख जन–प्रतिनिधियों के रूप में किया गया है। अस्पृश्यता के सम्बन्ध में भारतीय संविधान के दृष्टिकोण का प्रस्तुतीकरण अद्यावधि वर्णव्यवस्था के विवेचन को पूर्णता प्रदान करता है। लेखक का अपना मत है कि भारतीय परम्परा में विषमता के बीज मनुस्मृति ने बोए हैं। जैन धर्म के विपुल साहित्य में जातिवाद का सदैव तिरस्कार किया गया है। जाति नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुई मनुष्य जाति एक है । यदि उसके चार भेद माने जाते हैं तो केवल आजीविका के कारण ही। अलग–अलग जातियों के विभाजन से पूरे देश की जो दुर्दशा हुई, वह किसी से छिपी नहीं है। स्वतन्त्रता के पूर्व तक शूद्र, जिन्हे अछूत भी कहा जाता था, इनकी स्थिति वस्तुतः मानवता के नाम पर कलंक थी। महात्मा गाँधी ने इन्हें हरिजन संज्ञा देकर इनकी दशा सुधारने के अथक और निरन्तर प्रयास किए। स्वतन्त्रता के बाद हरिजन–मन्दिर–प्रवेश पर बड़े झगड़े–झंझट हुए। पंडित जी ने 'जिनागम के परिप्रेक्ष्य में जिन मन्दिर प्रवेश' शीर्षक निबन्ध में शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर वस्तुस्थिति को उजागर करते हुए लिखा, कि शूद्रों के जिनमन्दिर में जाने का कहीं भी निषेध नहीं है। इस प्रकार समाज के एक बड़े भाग को देशहित में दिशाबोध कराया । ईमानदार लेखक क्रान्तिकारी विचारों को सामने लाने से कभी विमुख नहीं होता।

जन्म भूमि के प्रति रागात्मक भावना राष्ट्रीयता की पहली शर्त है। इसमें व्यक्ति

अपने परिकर, ग्राम, प्रान्त की सीमाओं तक ही सीमित नहीं रहता अपितु उसका सम्बंध राष्ट्र और उसके कण–कण से अनुराग होता है। वह उस विशाल राष्ट्र का स्वयं को एक सदस्य मानता है। मैंने ऊपर हिन्दी के श्रेष्ठ निबन्धकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का उल्लेख किया है। सच्चे देशप्रेमी के लक्षणों के सम्बन्ध में उनका कथन है, "यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत, नदी निर्झर, सबसे प्रेम होगा, सबको वह चाह भरी दृष्टि से देखेगा, सबकी सुध करके वह विदेश में आँसू बहायेगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो आँख भरकर यह भी नहीं देखते कि आम प्रणय सौरभपूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोंपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि नए बने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देश–प्रेम का दावा करें, तो उनसे पूछना चाहिये कि भाइयों ! बिना परिश्रम का यह प्रेम कैसा ?" पंडित फूलचन्द्र शास्त्री के इस निबन्ध संग्रह के एकाधिक निबन्ध देशप्रेम की प्रगाढ़ता के ही परिणाम हैं। 'सम्प्रदाय जाति और प्रान्तवाद' शीर्षक निबन्ध में 'भारतवर्ष के पतन के कारणों में सम्प्रदायवाद, जातिवाद और प्रान्तवाद को मुख्य' माना है। साथ ही अपनी गहरी चिन्ता व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है, " सम्प्रदाय जाति और प्रान्तवाद की सहस्रमुखी ज्वालाओं से स्वातन्त्र्य का नव विकसित कुसुम झुलसा जा रहा है। कॉग्रेस कमेटियों के चुनाव, जनपद निर्वाचन, विधान सभाओं के चुनाव, नौकरी, कन्ट्रोल के लायसेंस आदि जहाँ भी देखिए वहाँ इन्हीं के नाम पर स्वार्थ साधा जा रहा है ....।" लेखक की इस चिन्ता के कारण आज उससे भी अधिक विद्यमान हैं।

जाग्रत लेखक को भविष्य दृष्टा माना जाता है। उसकी रचनाओं में सर्वकालिक सत्य झाँकता है। लेखक का निबन्ध 'आज का प्रश्न' अभी अतीत का प्रश्न न होकर, वर्तमान का प्रश्न ही बना हुआ है, " उत्पादन शक्ति मजदूरों के हाथ में होते हुए भी सम्पत्ति के भोक्ता मात्र ये पूँजीपति हैं। कभी–कभी अपने इस दोष को छिपाने के लिए दान की बड़ी–बड़ी रकमें भी निकालते हैं; फिर भी उनसे बहुजन समाज का जितना अधिक फायदा होना चाहिए वह कभी भी संभव नहीं है। परन्तु इस पद्धति से भी गरीबों के रखवारी आपको कितने पूँजीपति मिलेंगे इसका यदि सरासर विचार किया जावे तो सौ में से एक इस श्रेणी में आ सकेगा या नहीं इसमें भी सन्देह है।" निबन्धकार का एक–एक शब्द यथार्थ की वाचना करता प्रतीत होता है और उन्हें पौंगा पंडितों की पंक्ति से अलगाता भी है। यह उनकी सत्यान्वेषी दृष्टि का ही कमाल है। वस्तु स्थिति जब लेखक को व्याकुल कर देती है तो 'एक प्रश्न' उछलता है, "एक को रहने

के लिए सुन्दर मकान, आराम और सुख भोगने के लिए दूसरी सामग्रियाँ, पहिनने के लिए रेशमी कपडे और पर्यटन के लिए मोटर आदि साधन उपस्थित हैं, तो दूसरे को अपना शरीर ढाँकने के लिए वस्त्र का एक टुकड़ा और पेट भर अन्न भी नहीं मिलता है। परन्तु इन सब साधनों के उत्पादक कौन ? यदि यह प्रश्न किया जावे तो यह कोई भी कह सकता है कि इनके कर्ता वे जिन्हें अपना जीवन रोते हुए बिता देना पड़ता है।" इन सब सत्यान्वेषणों के पीछे पंडित जी के गूढ़, गहन एवं विशद अध्ययन चिन्तन का हाथ है। उक्त कथनों में मार्क्स का सिद्धान्त पुष्ट होता है परन्तु अपने 'अध्यात्म–समाजवाद' निबन्ध में आपने मार्क्सवादी व्यवस्था से असहमति व्यक्त करते हुए अध्यात्म–समाजवाद की स्थापना का मार्ग सुझाया है। उन्होंने लिखा है, "मार्क्स ने धर्म को अफीम कहा है इसका कारण यही है। उसने देखा बुराइयाँ धर्म के नाम पर प्रचारित की जाती हैं और जनता को पथभ्रष्ट किया जाता है। ईश्वर तो है ही नहीं। यदि वह होता तो विश्व की दुरवस्था क्यों होती ? .... क्यों मानव–मानव में इतना अन्तर होता ? क्यों गरीबी और अमीरी का भेद होता ? सच पूछा जाय तो मार्क्स ने मनुष्य की बुद्धि पर लगे ताले को खोल दिया है और प्रत्येक मनुष्य को स्वतन्त्र भाव से सोचने का अवसर प्रदान किया है।" इस स्वीकारोक्ति के उपरान्त लेखक को मार्क्स की व्यवस्था में जो दोष प्रतीत होता है, उसे वे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "मार्क्सवाद जहाँ आर्थिक विषमता को दूर करने का प्रयत्न करता है तथा इस व्यवस्था के आधारभूत ईश्वरवाद और वर्गवाद को जड़मूल से उखाड़ फेंकता है वहाँ वह जीवन संशोधन की बात को सर्वथा भुला देता है। यह तो कट्टर से कट्टर मार्क्सवादी को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि जो भी व्यवस्था की जाती है वह मानव जीवन को सुखी बनाने के लिए ही की जाती है। इसके बिना उसका कोई मूल्य नहीं। पर क्या इतने मात्र से जीवन मे आई हुई भीतरी और बाहरी सब प्रकार की बुराइयों का अन्त हो जाता है यह एक गम्भीर मार्मिक प्रश्न है जिसका समाधान मार्क्सवाद के आधार से होना कठिन है।" उनकी दृष्टि में, "जब हम मार्क्सवाद के सिवाय अन्यत्र दृष्टिपात करते हैं तो हमारी दृष्टि अध्यात्म–समाजवाद के ऊपर जाती है। हम देखते हैं इसमें मार्क्स के वे सब सिद्धान्त तो निहित हैं ही जिनका उसने 'केपिटल' नामक पुस्तक में विचार किया है। साथ ही उसमें जीवन संशोधन के मूल आधारों और उसकी तात्त्विक प्रक्रिया पर भी गहराई से विचार किया गया है।" विश्व शान्ति की बात भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री से लेकर आज तक हर नेता करता आया है। परन्तु उसे स्थापित करने में कौन से उपाय कारगर हो सकते हैं ? इसका निदान और प्रयोग से प्रायः विरत रह गया। पंचशील की चर्चा मात्र से विश्व शान्ति एक सपना बनकर रह गई। प्रस्तुत संग्रह के ' विश्वशान्ति और अपरिग्रह' शीर्षक निबन्ध में विस्तार से विश्वशान्ति के उपायों की सार्थक एवं महत्त्वपूर्ण चर्चा है।

संत कबीर ज्ञानमार्गी विचारक कवि थे। एक स्थान पर उन्होंने कहा, 'तुम कहते हो कागद लेखी, मैं कहता हूँ आँखिन देखी' सो मुझे स्पष्ट दिखता है कि पं० फूलचन्द्र शास्त्री ने जहाँ एक ओर जैन ग्रन्थों के अनुवाद, सम्पादन आदि कार्यों में रुचि ली तो दूसरी ओर देश–विदेश की राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक हलचलों की भी सुधि रखी। अपनी मानसिक ऊर्जा का भरपूर सदुपयोग किया। अपने ज्ञान को विवेक से जोड़े रखा। जीवन के असंतुलन से उनका मानस कभी असंतुलित नहीं हुआ। मुझे पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'समीक्षा में सन्तुलन का प्रश्न' शीर्षक निबन्ध का स्मरण हो आया। उसमें उनके मत से, "संतुलित दृष्टि वह नहीं है जो अतिवादियों के बीच एक मध्यम मार्ग खोजती फिरती है, बल्कि वह है जो अतिवादियों की आवेग–तरल विचारधारा का शिकार नहीं हो जाती और किसी पक्ष के उस मूल सत्य को पकड़ सकती है जिस पर बहुत बल देने और अन्य पक्षों की उपेक्षा करने के कारण उक्त अतिवादी दृष्टि का प्रभाव बढ़ा है। संतुलित दृष्टि सत्यान्वेषी दृष्टि है। एक ओर जहाँ वह सत्य की समग्र मूर्ति को देखने का प्रयास करती है, वहीं दूसरी ओर वह सदा अपने को सुधारने और शुद्ध करने को प्रस्तुत रहती है। वही सभी प्रकार के दुराग्रह और पूर्वाग्रह से मुक्त रहने की और सब तरह के सही विचारों को ग्रहण करने की दृष्टि है।" (विचार और वितर्क, तृतीयावादी पृ० २८६–२९०)। कहने की आवश्यकता नहीं पंडित जी के निबन्धों में आपको यही दृष्टि मिलेगी। विस्तारभय के कारण विराम लेना अनिवार्य है। इस संग्रह के सभी लेख ' सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ' में छपे थे। लेकिन निबन्ध पाँचवें तथा छठे दशक के होने के बावजूद आज भी समसामयिक हैं और अधिक से अधिक लोगों तक इनके पहुँचाने की महती आवश्यकता है। अतः सि० पं० फूलचन्द्र शास्त्री फाउण्डेशन द्वारा इनका पुस्तक रूप में पुनर्मुद्रण कराये जाने का निर्णय है। पाठकों से विनम्र निवेदन है कि समीचीन निबन्धों पर अपनी समीक्षा हमें अवश्य प्रेषित करने का अनुग्रह करेंगे। फाउण्डेशन के अध्यक्ष डॉ० अशोक कुमार जैन की निरन्तर लगन और कार्यशीलता से भविष्य में भी पंडित जी के साहित्य का प्रकाशन जिज्ञासु पाठकों को लाभान्वित करता रहेगा। कबीर की साखी उदधृत करते हुए अब विराम लगाना ही उचित रहेगा–

सुखिया सब संसार है, खावै और सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै और रोवै।।

नजीबाबाद   विनम्र

३० जुलाई'९७   प्रेमचन्द जैन

विषय सूची

अध्यात्म-समाजवाद

भारत को राजनैतिक स्वतन्त्रता मिलने के बाद जिन परिस्थितियों का निर्माण हो रहा है उन्हें देखते हुए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम जैन संस्कृति के मूल तत्त्वों पर विचार करें और देखें कि वे तत्त्व वर्तमान परिस्थिति को सम्हालने में कहाँ तक उपयोगी हो सकते हैं ।

यों तो जैन साहित्य में ग्रन्थों की कमी नहीं है पर सांस्कृतिक दृष्टि से जिस पर अधिक दृष्टि जानी चाहिये वह है भगवान कुन्दकुन्द का समयप्राभृत । इस समय वर्गवाद मूलक अध्यात्मवाद और भौतिक समाजवाद को विफल करने का हमारे पास एक ही मार्ग है और वह है अध्यात्म समाजवाद । भगवान कुन्दकुन्द ने अपने इस ग्रन्थराज में इसी तत्त्व का सुन्दरता से निरूपण किया है । सच पूछा जाय तो जैन संस्कृति की यह आत्मा है ।

तत्काल वर्तमान समस्याओं का हल समाजवाद माना जाने लगा है । अधिकतर लोगों का यह ख्याल होता जा रहा है कि इसे स्वीकार किये बिना सब प्रकार की बुराईयों का दूर किया जाना असम्भव है । इसमें सन्देह नहीं कि उनका यह ख्याल बहुत कुछ अंशों में सही है, क्योंकि इस समय ईश्वरवाद, वर्गवाद और आर्थिक विषमता ने मानव समाज को इतनी बुरी तरह जकड़ रखा है कि जिससे उसे साँस लेने तक का अवसर नही मिलता । इस तन्त्र जाल से किस प्रकार निकला जा सकता है, इसका उसे ज्ञान नहीं है । ये बुराईयाँ मानव समाज का कोढ़ हैं, इसमें जरा भी सन्देह नहीं। मार्क्स ने धर्म को अफीम कहा है इसका कारण यही है । उसने देखा कि ये बुराईयाँ धर्म के नाम पर प्रचारित की जाती हैं और जनता को पथभ्रष्ट किया जाता है । ईश्वर तो है ही नहीं । यदि वह होता तो विश्व की इतनी दुरवस्था क्यों होती ? क्यों हिन्दुस्तान और पाकिस्तान बनते ? क्यों मानव मानव में अन्तर होता? क्यों गरीबी और अमीरी का भेद होता ? सच पूछा जाय तो मार्क्स ने मनुष्यों की बुद्धि पर लगे हुए ताले को खोल दिया है और प्रत्येक मनुष्य को स्वतन्त्र भाव से सोचने का अवसर प्रदान किया है ।

किन्तु उसकी व्यवस्था में एक दोष है । मार्क्सवाद जहाँ आर्थिक विषमता को दूर करने का प्रयत्न करता है तथा इस व्यवस्था के आधारभूत ईश्वरवाद और वर्गवाद को जड़ मूल से उखाड़ फेंकता है वहाँ वह जीवन संशोधन की बात को सर्वथा भुला देता है । यह तो कट्टर से कट्टर मार्क्सवादी को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि जो

भी व्यवस्था की जाती है वह मानव जीवन को सुखी बनाने के लिए ही की जाती है। इसके बिना उसका कोई मूल्य नहीं । पर क्या इतने मात्र से जीवन में आई हुई भीतरी और बाहिरी सब प्रकार की बुराईयों का अन्त हो जाता है यह एक गम्भीर और मार्मिक प्रश्न है जिसका समाधान मार्क्सवाद के आधार से होना कठिन है । इसलिए इसका समाधान पाने के लिए जब हम मार्क्सवाद के सिवा अन्यत्र दृष्टिपात करते हैं तो हमारी दृष्टि अध्यात्म–समाजवाद के ऊपर जाती है । हम देखते हैं कि इसमें मार्क्स के वे सब सिद्धान्त तो निहित हैं ही जिनका उसने केपिटल (Capital) नामक पुस्तक में विचार किया है । साथ ही उसमें जीवन संशोधन के मूल आधारों और उसकी तात्त्विक प्रक्रिया पर गहराई से विचार किया गया है ।

अध्यात्म–समाजवाद को दूसरे शब्दों में 'अध्यात्म समतावाद' भी कह सकते हैं । इसका व्यापक से व्यापक अर्थ है जड़ चेतन सबकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करना और कार्यकारण भाव को सहयोग प्रणाली के आधार प्रर स्वीकार करके व्यक्ति की स्वतन्त्रता को आँच न आने देना ।

यह वर्तमान कालीन अव्यवस्था का समुचित उत्तर है । इसमें एक ओर जहाँ आत्मा की स्वतंत्रता स्वीकार की गई है वहाँ दूसरी ओर जड़ तत्त्वों की स्वतन्त्र सत्ता को भी नहीं भुलाया गया है । यह मुकम्मिल स्वतन्त्रता की पूरी गारन्टी हो जाती है। अन्तरंग समस्या है व्यक्तिगत उन्नति और बहिरंग समस्या है परस्पर के सम्बन्ध की। यह दोनों का सुन्दरतम हल उपस्थित करता है ।

जैसा हम देखते हैं कि विश्व अनेक तत्त्वों का समुदाय है । इसमें जड़ चेतन सभी तत्त्व मौजूद हैं । उनके सहयोग और सम्मिश्रण से ही इसकी निर्बाध गति चल रही है । इसमें क्या जड़ और क्या चेतन एक भी तत्त्व परतन्त्र नहीं है । सभी अपनी अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग कर रहे हैं । ऐसी हालत में यह मानना 'मैं बड़ा हूँ वह छोटा है, यह मेरा भोग्य है मैं उसका भोक्ता हूँ, यह अछूत है मैं छूत हूँ, मैं स्वामी हूँ वह सेवक है, मैं राजा हूँ वह प्रजा है, मैं राव हूँ वह रंक है' निरा अज्ञान है, अधिकतर ये विकल्प जीवन में आई हुई कमजोरी के कारण होते हैं । जिन्होंने कमजोरी पर विजय पाई है वे इनसे सदा मुक्त रहते हैं । कमजोरी से हमारा तात्पर्य राग, द्वेष और मोह से है । विश्व में जितनी भी समस्याएँ उग्र रूप धारण किये हुए हैं या जो नई नई समस्याएँ सामने आ रही हैं उनका एकमात्र कारण राग, द्वेष और मोह ही तो है । इसी के कारण विश्व को ये दिन देखने पड़ रहे हैं ।

अध्यात्म–समाजवाद का आन्तररूप जितना निर्मल और वस्तुस्पर्शी है उसका

बाह्य रूप भी उतना ही मोहक और सब प्रकार की कल्पित विषमता को दूर करने वाला है । यह समत्व की भावनाओं में से प्रसूत होकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी छाप छोड़ता जाता है । यह ऐसी विषमता को जीवन की चीज नहीं मानता जिसे हम ऊपर से स्वीकार करते हैं । उदाहरणार्थ छूत–अछूत समस्या को लिया जा सकता है । वैदिक धर्म के प्रभाव से कुछ ऐसा प्रघात पड़ गया है जिससे कुछ भाई छूत और कुछ भाई अछूत माने जाने लगे हैं । जो छूत माने जाते हैं उनके साथ मानवता का व्यवहार किया जाता है, उन्हें बैठने के लिए उचित स्थान दिया जाता है और मन्दिर आदि में प्रवेश करने पर रोका नहीं जाता । किन्तु जो अछूत माने जाते हैं उन्हें न तो अपने पास बैठने दिया जाता है, न मन्दिर में जाने दिया जाता है और न स्पर्श ही किया जाता है । लघुशंका के बाद हाथ धोने से काम चल जाता है पर उनका स्पर्श हो जाने पर सचेल स्नान की आवश्यकता पड़ती है । कुत्ते बिल्ली के छू जाने पर किसी प्रकार की बुराई नहीं मानी जाती पर उनके छू जाने पर सारा धर्म कर्म बिगड़ जाता है । वे तिर्यंचों से भी बदतर मान लिये गये हैं ।

यह समस्या देश के सामने हजारों वर्षों से उपस्थित है । इस कारण देश को जो हानि उठानी पड़ी है वह अवर्णनीय है । इस सामाजिक विषमता के परिणामस्वरूप ही देश को अनेक भागों में बँटना पड़ा है । पंजाब और बंगाल का हत्याकाण्ड इसी का परिणाम है फिर भी भारतीयों की आँखें नहीं खुल रही हैं । माना कि वे जब अशुचि अवस्था में हों तब उनसे दूर रहना चाहिये पर स्नान करने के बाद जब वे स्वच्छ कपड़े पहिन लेते हैं तब ऐसी कौन सी बाधा रह जाती है जिससे उन्हें स्पर्श नहीं किया जाता ?

जहाँ तक वैदिक धर्मावलम्बियों का सवाल है यह बात कुछ–कुछ समझ में भी आती है कि वे अपने समाज के अंग को अपने से जुदा रखें, क्योंकि इस धर्म का मुख्य आधार है सामाजिक विषमता । वे जन्मना वर्ण व्यवस्था पर जोर भी इसी कारण से देते हैं और उच्चत्व तथा नीचत्व का आधार कर्म को मानते हैं । वेद और वेदानुमोदित स्मृति उनका मुख्य धर्मशास्त्र है । इसके अनुसार मनुष्य को अपने–अपने वर्ण की प्राप्ति जन्म से होती है । वे ब्राह्मणत्व आदि जाति को नित्य मानते हैं इसलिए जिस व्यक्ति से जिस जाति का समवाय सम्बन्ध हो जाता है वह जीवन भर उसी जाति का बना रहता है । अनेक प्रयत्न करने पर भी उसकी जाति नहीं बदलती । ब्राह्मण चाहे जितने भ्रूण हत्या, चोरी, हिंसा आदि निम्नतम पाप करे इससे वह कभी भी ब्राह्मण से अब्राह्मण नहीं हो सकता और शूद्र चाहे जितने सदाचार पालन आदि उच्चतम कर्म करे इससे वह कभी भी शूद्र से अशूद्र नहीं हो सकता ।

पर जैन धर्मानुयायियों ने तीर्थंकरों के उपदेशों को भुलाकर पर–धर्म को कैसे स्वीकार कर लिया है यह बात जरा भी समझ में नहीं आती । जैन तत्त्वज्ञान उन्हें क्या आज्ञा देता है यह बात उन्हें आँख खोल कर देखनी चाहिये । वे चालू व्यवस्था के व्यामोह में पड़कर खीझें नहीं किन्तु इसके वास्तविक कारणों पर जायें। वे देखें कि क्यों हम अपने ही समान एक भाई को छूत और दूसरे भाई को अछूत मानते हैं। एक भाई में ऐसी कौन सी विशेषता है जिससे वह छूत माना जाता है और दूसरे भाई में उसकी क्या कमी है जिससे वह अछूत माना जाता है । यदि सचमुच में अन्तर्दृष्टि होकर देखेंगे तो उन्हें मालूम पड़ेगा कि यह केवल हमारे राग, द्वेष और मोह का विपाक है जो हमसे ऐसा मनवा रहा है । उन भाईयों में ऐसी छूत और अछूतपने की कोई निसानी नहीं है, दोनों ही समान है । यह मालूम पड़ने पर कि यह अछूत है हम ग्लानि करने लगते हैं, परन्तु इसके पहले ऐसा कुछ भी भाव नहीं होता । इसलिए आवश्यकता अपने इन विकारों को त्यागने की है । इन विकारों के दूर हो जाने पर यह समस्या सुतरां सुलझ जाती है । हममें वह समानता का भाव आने लगता है जिसकी आज विश्व को आवश्यकता है और जिसका निर्देश हजारों क्या लाखों वर्ष पहले जैन तीर्थंकरों ने कर दिया था । उन्होंने स्पष्ट घोषणा की थी कि धर्म तो पशुओं तक के लिये है वह मनुष्य–मनुष्य में अन्तर कैसे कर सकता है ? यही सबक है कि उनकी सभाओं में सबको समान भाव से आने दिया जाता था और सब उनके उपदेशों से लाभ उठाने के लिए स्वतन्त्र थे ।

कहा यह जाता है कि वे संस्कारहीन हैं अतः उनके सम्पर्क से सदाचार के लोप होने का भय है । पर इस युक्तिवाद में कोई तथ्य नहीं । यह भाव केवल अपने जीवन की कमजोरी को व्यक्त करने वाला है । वैसे देखा जाय तो सम्पर्क तो उनके साथ बना हुआ है और उसके बिना काम भी नहीं चलता । केवल छूने का परहेज करके बैठे हैं और ऐसा मान लिया है कि यह न छूना ही धर्म है । धर्म की यह कितनी उथली परिभाषा है । जिस धर्म का उपदेश जीवन में आये हुए विकार को दूर करके अपने स्वभाव की ओर ले जाने के लिए दिया गया था वह धर्म स्वयं विकारी भाव में चरितार्थ हो रहा है । हमने अपने मिथ्या अभिनिवेश के वशीभूत होकर धर्म के स्वरूप की दिशा ही बदल दी है । इस व्यवहार द्वारा या तो हम रेत में से तेल निकालना चाहते है या रात्रि को दिन बनाना चाहते है । और मजा यह कि गालियाँ देते हैं मार्क्सवाद को । मार्क्सवाद हमारी इन भूलों का ही तो फल है । यदि हम चाहते हैं कि अध्यात्म–समाजवाद जीवित रहे तो हमें उसके अनुसार अपना जीवन भी बनाना होगा । हमें इस संकुचित मनोवृत्ति को छोड़ कर विस्तृत आधार से विचार करना होगा।

यदि थोड़ी देर को यह मान भी लिया जाय कि वे संस्कारहीन हैं तो भी हमारा कर्त्तव्य उनके पृथक रहने का नहीं होना चाहिये । हमें विश्वास और दृढ़ता के साथ उनके जीवन को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिये, उन्हें मन्दिर में आने देना चाहिये और तीर्थंकरों के उपदेशों द्वारा उनके चालू जीवन को बदलने का प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिए हम ईसाई मिसनरियों से काफी शिक्षा ले सकते हैं । जिन भारतवर्षीय ईसाईयों का हम लोग आदर करते हैं उन्हें बैठने उठने के लिए कुर्सी देते हैं वे कल भंगी और चमार ही तो थे । फिर वे आज ऐसे कैसे बन गये ? एक सहवास और सदुपदेश ही तो इसका कारण है ।

यदि भारतवर्ष ने जैन तत्त्व ज्ञान के आधार से इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया होता तो इसमें सन्देह नहीं कि इस समस्या के हल होने में जरा भी देर नहीं लगती । जैन धर्म ने अपने कर्म के आधार से उच्चता और नीचता मानने की कभी शिक्षा नहीं दी है । वह तो गर्भज मनुष्य मात्र में समान योग्यता मानता है। कर्म से न कोई ऊंच होता है और न कोई नीच । उच्चता और नीचता का यदि कोई आधार है भी तो वह आन्तरिक परिणति ही है जो किसी भी मनुष्य के हो सकती है। इसके लिए जाँति--पाँति का बन्धन आवश्यक नहीं है । सच तो यह है कि स्वयं जैनियों ने इस महान् तत्त्व ज्ञान को तिलांजलि दे दी है और जिस जांति पांति या सामाजिक उच्चत्व और नीचत्व का विरोध करने के लिए उनके पूर्वजों ने अनेक संकटों का सामना किया था आज वे ही उन बुराईयों के पुजारी बन रहे हैं । क्या हम आशा करें कि आज के जैन बन्धु अपने इस उदार और वस्तुस्पर्शी तत्त्व ज्ञान की ओर समुचित ध्यान देंगे । मेरा तो विश्वास है कि यदि उन्होंने इस ओर ध्यान दिया और इसके अनुसार आचरण किया तो एक छूत--अछूत समस्या ही क्या विश्व की अन्य समस्याएँ भी हल हो सकती हैं ।

साधारणतः विश्व के सामने छूत--अछूत समस्या के सिवा दूसरी मुख्य समस्या आर्थिक विषमता की है । इस समय विश्व में जो संघर्ष दिखलाई दे रहा है उसका मूल कारण यही है । इस कारण विश्व स्पष्टतः दो गुटों में बँटता जा रहा है । यदि हम अध्यात्म समाजवाद के आधार से इस समस्या को भी सुलझाने का प्रयत्न करते हैं तो इसमें सन्देह नहीं कि यह समस्या आसानी से सुलझ सकती है । अध्यात्म समाजवाद के सिद्धान्तानुसार कोई भी मनुष्य आवश्यकता से अधिक का संचय नहीं कर सकता क्योंकि संचय करना और संचित द्रव्य का अपने को स्वामी कहना कषाय का परिणाम है । किन्तु वह इसकी शिक्षा नहीं देता । उसके अनुसार तो प्रत्येक मनुष्य को परिग्रह त्याग का परिमाण कर लेना चाहिये क्योंकि परिग्रह पर है और वह मोक्ष मार्ग में बाधक है. ।

जैसी कि तीर्थंकरों की शिक्षा है तदनुसार स्वावलम्बन ही जीवन का सार है। बिना स्वावलम्बन के कोई भी मनुष्य आत्म धर्म का अभ्यासी नहीं हो सकता । यह दूसरी बात है कि कोई मनुष्य इसे पूरी तरह से जीवन में उतारने का अभ्यास करता है और कोई अंशतः । पर धर्मात्मापन की यह कसौटी है कि वह स्वावलम्बन के साथ जीवन बिताने का प्रयत्न करे । अब देखना यह है कि जो उत्तरोत्तर अधिकाधिक परिग्रह के संचय में लगा रहता है वह क्या स्वावलम्बन का अभ्यासी कहा जा सकता है । सच पूछा जाय तो ऐसा मनुष्य धर्म का द्रोही होना चाहिये। इसे स्वावलम्बी अर्थात धर्मात्मा मानना तो त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है । धर्म का वस्तु में ममकार और अहंकार करने के साथ तीव्र विरोध है । जहाँ पर वस्तु में ममकार और अहंकार है वहाँ धर्म नहीं और जहाँ धर्म है वहाँ पर वस्तु में ममकार और अहंकार नहीं । इसलिए परिग्रह की प्राप्ति धर्म का फल न मानकर कषाय का ही परिणाम मानना चाहिये । यही सबब है कि तीर्थंकरों ने इसके त्याग का उपदेश दिया है । और यह बतलाया है कि जो व्यक्ति जीवन में आये हुए विकार के कारण परिग्रह का पूर्व त्याग नहीं कर सकता वह उसका परिमाण अवश्य कर ले । उसका कर्त्तव्य है कि वह आवश्यकता से अधिक का संचय न करे ।

हम देखते हैं कि विश्व यदि इन शिक्षाओं के अनुसार काम करने लगे तो इस समस्या को हल करने में थोड़ी भी देर न लगे और तब राज्य को इस समस्या के सुलझाने में अपनी शक्ति न लगानी पड़े ।

तीसरी समस्या स्त्रियों की है । स्त्रियों का भी समाज में वही स्थान होना चाहिये जो पुरुषों का है । वे किसी भी बात में पुरुषों से हीन नहीं हैं । यह नहीं हो सकता कि पुरुष उत्तरोत्तर विकार को प्रश्रय देते जाँय और वे जीवन भर अविकारी बने रहें। कौन मनुष्य विकार पर विजय पाता है और कौन नहीं यह व्यक्ति का प्रश्न है । समाज का निर्माण तो व्यक्तियों के जीवन में आई हुई कमजोरी के फलस्वरूप समझौते के रूप में ही किया जाता है । यह तो कमजोरियों को स्वीकार करता है । कमजोरियों का उच्छेद करना इसका काम नहीं । समाज और धर्म में यही अन्तर है । इसलिए जहाँ तक समाज का प्रश्न है हमें वही अधिकार स्त्रियों के भी मानने चाहिये जो पुरुषों को प्राप्त हैं ।

ये हैं अध्यात्म–समाजवाद की शिक्षाएँ । अध्यात्म–समाजवाद अध्यात्म मूलक समाजवाद का संक्षिप्त रूप है । इसमें अध्यात्म शब्द व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सूचक है और समाजवाद सहयोग प्रणाली के आधार पर स्वीकृत कार्यकारण भाव को सूचित

करता है । कहीं–कहीं इसे अध्यात्मवाद भी कहा गया है । इसके द्वारा जहाँ हम एक ओर विकारों को दूर करने में समर्थ होते हैं वहाँ दूसरी ओर परस्पर समझौतों द्वारा विकारों पर नियंत्रण स्थापित करते हैं । इसके स्वीकार करने से व्यक्ति तो प्रतिष्ठित होता ही है । पर समाज को भी अपने व्यवहार की दिशा निश्चित करने में सहायता मिलती है । ऐसा सर्वोपयोगी है यह अध्यात्म–समाजवाद । मेरी समझ से यदि विश्व अतीत में की गई भूलों पर विजय पाना चाहता है तो इसके स्वीकार करने में जरा भी हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये । हम उस दिन की प्रतीक्षा में है जिस दिन इस भावना को चरितार्थ होते हुए देखेंगे ।

सम्प्रदाय, जाति और प्रान्तवाद

भारतवर्ष के पतन के कारणों में सम्प्रदायवाद, जातिवाद और प्रान्तवाद मुख्य हैं । पुराने इतिहास को देख जाइये कहीं सम्प्रदाय, कहीं जाति और कहीं प्रान्तवाद ने अपना काला रूप दिखा कर भारत को भौगोलिक अखण्डता भी प्राप्त नहीं होने दी ।

सामन्तवाद ने अपने पनपने के लिए यही स्तम्भ खड़े किये और सच पूछा जाय तो मानवता को खण्ड–खण्ड करके वर्ग विशेष के अहंकार और उसे विशेष संरक्षण देने के लिए ही ये सस्ते आधार रहे हैं । अंग्रेजों ने इन्हीं अस्त्रों के सहारे भेद नीति से भारतवर्ष को न केवल राजनैतिक गुलामी में ही जकड़ कर अपना उल्लू सीधा किया किन्तु इसे सदा के लिए सांस्कृतिक हीनता और विनाश के गहरे गर्त में गिराने का रास्ता खोल दिया । पाकिस्तान की सृष्टि करके उन्होंने सम्प्रदाय, प्रान्त और जाति इन तीनों विष बेलों की जड़ें गहरी पहुँचा दी हैं ।

इन सबके बावजूद पूज्य बापू के नेतृत्व में भारतवर्ष ने खंडित स्वतन्त्रता प्राप्त की । भारतवर्ष के नक्शे से पीला कोढ़ समाप्त होकर आज वह भौगोलिक इकाई पा गया है । पर, सम्प्रदाय जाति और प्रान्तवाद की सहस्रमुखी ज्वालाओं से स्वातन्त्र्य का नव विकसित कुसुम झुलसा जा रहा है । कांग्रेस कमेटियों के चुनाव, जनपद निर्वाचन, विधान सभाओं के चुनाव, नौकरी, कन्ट्रोल के लायसेंस आदि जहाँ भी देखिये वहाँ इन्हीं के नाम पर अपना स्वार्थ साधा जा रहा है । शिक्षा का पुनीत क्षेत्र भी इस गन्दगी से अछूता नहीं रहा है । आखिर जो विष भारत के हृदय और मस्तिष्क में पीढ़ियों से व्याप्त हो रहा है, वह अवसर आने पर अपना दुष्प्रभाव दिखाये बिना रह ही नहीं सकता ।

इतनी ही आशा की नवकिरण है, कि कांग्रेस तथा भारत की विधान सभा ने सिद्धान्ततः भारत को असाम्प्रदायिक राज्य घोषित किया है और धर्म–जाति वंश और परम्परागत संरक्षणों को समाप्त कर सबको समान अधिकार दिये हैं ।

जैन धर्म ने संसार के प्रत्येक पदार्थ को अनेक धर्म वाला विविध विशेषताओं और विचित्रताओं का अविरोधी आधार माना है । उसने एक में अनेकता और अनेकता में एकता का सुन्दर समन्वय किया है । अहिंसा की उच्च भूमिका का निर्वाह बिना इस समन्वय के हो ही नहीं सकता था । उसकी दृष्टि में भारतवर्ष अनेक जाति सम्प्रदाय और प्रान्त आदि का अविरोधी अखण्ड आधार है । यह अपने में एक और अपखण्ड

है । प्रत्येक सम्प्रदाय जाति और प्रान्त का उस पर समान अधिकार है । हमें इनमें नये दृष्टि से अविरोध स्थापित करके सबमें अनुस्यूत अखण्ड भारतीयत्व का दर्शन करना है । जाति, सम्प्रदाय और प्रान्त का भेद बुरा नहीं है, बुरा है इनका अहंकार और उसके कारण पनपने वाला मातवाद । एक सम्प्रदाय जब अपनी बात कहता है और दूसरे सम्प्रदायों की बुराई न कर उनके प्रति तटस्थ भाव रखता है, तब तक वह सत्सम्प्रदाय है । पर जब वह दूसरे सम्प्रदायों का तिरस्कार और द्वेष करता है तब वह 'सत्' की सीमा से 'असत्' में जा पहुँचता है । असल में सम्प्रदाय की जड़ मस्तिष्क में न होकर हृदय में होती है और हृदय परिवर्तन के बिना दूसरे सम्प्रदायों की बुराई या उनके प्रति घृणा का भाव फैलाने से हमारी अखण्डता का विनाश ही होता है ।

जाति की जड़ रक्त में ही पहुँची है । सबको अपनी जाति अर्थात् रक्तश्रेष्ठता का अभिमान है । वैसे देखा जाय तो पौद्गलिक जड़ रक्त से श्रेष्ठता का कोई खास सम्बन्ध नहीं है । एक ही रक्त से उत्पन्न दो बालक विभिन्न वातावरण और परिस्थितियों के अनुसार भिन्न–भिन्न संस्कार वाले हो जाते हैं । जो छोटा–मोटा अन्तर भी होता है वह इतना बद्धमूल नहीं होता कि उसमें शिक्षा संगति और वातावरण से बदल न हो सके । जैन परम्परा ने उस अन्तर को इतना बड़ा तो माना ही नहीं है कि वह मानव समानाधिकार में बाधक बन सकता हो । फिर, अनादि काल से आज तक किसी एक परम्परा की शुद्धता में कैसे विश्वास किया जा सकता है ? ऐसी दशा में जाति की श्रेष्ठता का ढिंढोरा पीट कर भारत की अखण्ड राष्ट्रीयता को छिन्न भिन्न करना अपनी संस्कृति का ही घात करना है । पहिले गाँव पेशा आदि के नाम से अनेक जाति–उपजातियों की सृष्टि हुई थी । उस समय यातायात के साधन कम थे और सबकी अपनी छोटी–सी दुनिया थी । उसी में खानपान शादी–विवाह लेन–देन आदि होता रहता था । पर आज की दुनिया सबकी एक है । यहाँ सूई पटकिये तो उसकी आवाज उसी समय अमेरिका क्या विश्व के कोने–कोने में पहुँचती है । अतः हमें अब न केवल भारतीयता किन्तु विश्व मानवता की दृष्टि से विचार करना है । अपनी शक्ति साधन सामग्री की सीमितता आदि के कारण मुख्य रूप से अपनी जाति के लोगों की उन्नति में विशेष लक्ष्य देना उतनी बुरी बात नहीं है, पर जब दूसरी जाति को हीन तुच्छ और नीच समझ कर उसके प्रति घृणा का भाव फैलाया जाता है तब वह 'दुर्जाति' का रूप लेकर 'सत्' की सीमा को लांघ जाती है । जाति का आवरण लेकर शासन की एकता को ध्वंस करना तो राष्ट्रीय महापाप है ।

शासन की सुविधा के लिए प्रान्तों की रचना होती है । इसकी सीमाएँ बनती–बिगड़ती रहती हैं । जब देश की सीमा स्थिर नहीं तब प्रान्त की तो कथा ही क्या । यह ठीक है कि विभिन्न प्रान्तों की संस्कृतियाँ जुदा–जुदा हैं । पर इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि दूसरे प्रान्त की संस्कृति भाषा आदि के प्रति हीनता का भाव दर्शाया जाय और भारतीयता के क्षेत्र में अपने प्रान्त के लोगों को भरने की चेष्टा करके प्रच्छन्न रूप से भारतीयता को नष्ट करने की कुचेष्टा की जाय । जब एक प्रान्त दूसरे प्रान्त के प्रति घृणा–द्वेष और नीचत्व के भाव फैलाता है तब वह 'सत्' की परिधि से बाहर हो जाता है और वह 'असत्' को प्रश्रय देता है ।

सारांश यह है कि जैन दर्शन के नयवाद में जिस तरह प्रत्येक नय का अपने विषयभूत अंश को मुख्यता देना तो क्षम्य है पर दूसरे का निराकरण या तिरस्कार किसी तरह क्षम्य नहीं है, उसे दूसरे नय के प्रति बन्धु–भाव और तटस्थता ही रहनी होती है अन्यथा वह सुनय नहीं, दुर्नय कहलाता है उसी तरह सम्प्रदाय जाति और प्रान्त को भी अन्य के प्रति बन्धुत्व और अपनी मुख्यता के समय दूसरों के प्रति तटस्थता का भाव ही अपनाने में 'सत्–पना' है अन्यथा ये विषरूप होकर अखण्ड भारतीयता का विनाश ही करते रहेगें और इस तरह मानव जाति के विकास के महान् रोड़े बनेंगे।

श्रमण धारा के महापुरुषों ने सदा से इनके विष नाश करने का उपदेश दिया और जीवन में अहिंसा की उच्च साधना द्वारा समन्वय सहिष्णुता, उदारता और विशालता का प्रकाश देकर मानव को मानव बनाये रखने का सतत प्रयत्न किया है।

विश्वशान्ति और अपरिग्रहवाद

अहिंसा और विश्व

शान्तिवादियों के भारत में दो सम्मेलन हुए—एक शान्ति निकेतन में और दूसरा सेवाग्राम में । ये दोनों स्थान इस युग के दो महापुरुषों की साधनाभूमि रहे हैं । कवीन्द्र--रवीन्द्र और महात्मा गाँधी ने अपने लोकोत्तर कार्यों द्वारा भारत का सिर तो विश्व में ऊँचा किया ही पर विश्व को भी जीवन और जगत् के सम्बन्ध में नई दृष्टि दी । खासकर गाँधी जी की अहिंसा का मानव जाति पर अमिट प्रभाव पड़ा है । और अधिकांश विचारक अब यह मानने लगे हैं कि अहिंसा के द्वारा प्रत्येक मानवीय समस्या का शान्तिपूर्ण हल किया जा सकता है । अहिंसा एक विधायक शक्ति है और विश्व का प्रचारक बहुभाग उसके प्रयोग और परीक्षण में लगा हुआ है । यह होते हुए भी बहुत से विचारकों का अहिंसा में जरा भी विश्वास नहीं हैं । भारत ने अहिंसक उपायों से जो स्वतन्त्रता प्राप्त की वह विश्व इतिहास की अभूतपूर्व घटना है, पर उसका विश्व की राजनीति पर उतना प्रभाव नहीं पड़ा जितनी आशा की जाती थी । भारत को स्वतन्त्रता मिलने के बाद जो घटनाएँ घट रही हैं और जिस ढंग पर कल्पित तीसरे युद्ध की तैयारी में विभिन्न देश लगे हुए हैं, इससे स्पष्ट है कि अहिंसा का ठीक मर्म अभी जनता के हृदय में नहीं पैठ सका है ।

अन्तर्राष्ट्रीय दलबन्दी

वर्तमान विश्व दो बड़े गुटों में विभाजित है--एक अमेरिकन गुट जो पूंजी का प्रतिनिधि है और दूसरा रूस जो श्रम का प्रतिनिधि है । इसे श्रम और पूंजी की प्रतिद्वन्द्विता कहना अधिक उपयुक्त होगा । जीवन में विशेष स्थान पूंजी का है या श्रम का यही मुख्य विवाद का विषय है । अमेरिकन गुट पूँजी को प्रथम स्थान देना चाहता है और रूस श्रम को, यही इन दोनों के बीच का झगड़ा है। यह लड़ाई विश्व के कोने--कोने में फैलती जा रही है । अमेरिका के पक्ष में विश्व की अधिकतर सरकारें, पूँजीपति और वे साम्प्रदायिक संस्थाएँ हैं जिनका निर्माण और विकास मुख्यतया पूँजीवादी तत्त्वों के आधार पर हुआ है । तथा रूस के पक्ष में किसान, मजदूर और मध्यम वर्ग की जनता है । अब तो कुछ देशों की सरकारें भी रूस का साथ देने लगी हैं । चीन के कम्युनिस्ट देश हो जाने के बाद तो रूस का बल विशेष रूप से बढ़ा है । इस स्थिति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उत्तरोत्तर पूँजी की ताकत

घटने के साथ श्रम की शक्ति बढ़ रही है । आम जनता पूँजी की अपेक्षा श्रम को विशेष महत्त्व देने लगी है ।

पूँजीवाद की हार

पिछला विश्व युद्ध पूँजी और श्रम के बीच न हो सका । हिटलर रूस पर चढ़ाई करने के बाद उसे यह रूप देना चाहता था, किन्तु उस समय ब्रिटेन के सामने झूठी प्रतिष्ठा का लोभ और उठती हुई नई ताकत का भय था, इसलिए उसने हिटलर का विश्वास न कर रूस का साथ देना ही उचित समझा । इससे जर्मनी हार तो गया पर इसे उसकी हार न मान कर पूंजीवाद की ही हार कहनी पड़ती है । पूंजीवाद की यह ऐसी हार है जो सम्भवतः कभी भी जीत में परिणत नहीं की जा सकती ।

पूँजीवादी मनोवृत्ति

पूँजीवादी मनोवृत्ति किसी का विश्वास नहीं करती । गत युद्ध से यह दोष स्पष्ट रूप से लक्ष्य में आ रहा है । हिटलर जर्मनी की ताकत इसलिए बढ़ाना चाहता था कि जिससे वह भी मित्र राष्ट्रों की तरह दूसरे देशों का शोषण कर सके। सन्धि और समझौते से जब यह कार्य सम्पन्न नहीं किया जा सका तब उसने युद्ध का सहारा लिया । वस्तुतः उसकी इच्छा ब्रिटेन को उतना ही पंगु बनाने की थी, जितना कि वह अपने पड़ौसी रूस से डरता था । ब्रिटेन और अमेरिका इससे उचित लाभ नहीं उठा सके और इसलिए पूंजी की ताकत श्रम की ताकत से उत्तरोत्तर घटती गई ।

भारत की प्राचीन युद्ध परम्परा

इतिहास से स्पष्ट है कि भारत में युद्धों में विजय पाने के अर्थमूलक तीन आधार रहे हैं । राजा, धर्म और जातीयता । वैदिक काल से ये तीनों शब्द अर्थ विशेष में प्रयुक्त होते आये हैं । मनुस्मृति के अनुसार राजा ईश्वर का अंश होने से प्रभुसत्ता का पर्यायवाची है, धर्म अर्थमूलक समाज व्यवस्था का प्रतिनिधि होने से वर्ग प्रभुत्व का पर्यायवाची है और जातीयता का अर्थ उच्चत्व तथा नीचत्व के आधार से वर्गों को स्थानीय रूप प्रदान करना है । ईश्वरवाद तो इस व्यवस्था का पोषक रहा ही है। किन्तु उन समस्याओं को जो ईश्वरवाद के मानने पर उठ खड़ी होती हैं, कर्मवाद से सुलझाने का प्रयत्न किया गया है । वर्णाश्रम धर्म को अधिकतर लड़ाईयों में जय इसी आधार पर मिली है । किन्तु दूसरे देशों से सम्पर्क बढ़ने के बाद भारतवर्ष की स्थिति में अन्तर आया है । इनका स्थान एकमात्र पूंजी ने ले लिया है । पूंजी की श्रम के साथ जो लड़ाई पहले प्रच्छन्न रूप से चल रही थी, वह अपने सब आवरणों को समाप्त कर स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगी है ।

मार्क्स के संगठन का आधार

इस स्थिति को साफ करने में मार्क्सवाद ने बड़ी सहायता दी है । मार्क्स विश्व की समस्त घटनाओं को आर्थिक दृष्टिकोण से देखता है । उसका कथन है कि समाज का मुख्य आधार आर्थिक व्यवस्था है । किसी समाज की उन्नति और अवनति का मूल कारण उसकी उन्नत और अवनति आर्थिक व्यवस्था ही होती है । समाज का आर्थिक और राजनैतिक ढाँचा इसी आधार पर विकसित होता है । व्यक्ति के जीवन में जो परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं, उसका मुख्य कारण आर्थिक आधार ही है । मार्क्स का यह कथन इतिहास के अनुशीलन का परिणाम है । मार्क्स ने समाज व्यवस्था के पूंजीवादी आर्थिक ढाँचे को बदलने के लिए मात्र श्रम पर अधिक जोर ही नहीं दिया है, किन्तु उसके संग उनके उपाय भी प्रस्तुत किये हैं ।

मुख्य प्रश्न

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस समय पूँजी और श्रम के आधार पर विश्व दो भागों में बँट गया है । पूँजीवाद और समाजवाद के आगे शेष सब वाद फीके पड़ते जा रहे हैं । ईश्वरवादी प्रत्येक व्यवस्था में ईश्वर की दुहाई देने का प्रयत्न करते हैं अवश्य, पर अब वे अनीश्वरवादियों को नास्तिक कहने का साहस नहीं करते । अब तो विश्व के विचारकों के सामने यह मुख्य प्रश्न है कि विश्व में सद्भाव और प्रेम का संचार कैसे हो ? यद्यपि हम यह जानते हैं कि पूँजीवाद और समाजवाद की समस्या के ठीक तरह से हल हुए बिना यह सब हो सकना असम्भव है । यदि विश्व में युद्ध विरोधी भूमिका तैयार करनी है तो सर्वप्रथम इन वादों की समस्या हल करनी होगी। हमें देखना है कि तत्त्वतः किस मार्ग को स्वीकार करने पर विश्व शान्ति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है ।

मध्यम मार्ग पर अविश्वास

पूँजीवाद और समाजवाद की हमें यहाँ विस्तृत चर्चा नहीं करनी है । हमें तो उन उपायों की छानबीन करनी है जिसके आधार से विश्व को इनकी ऐकान्तिक बुराई से बचाया जा सके । प्रश्न यह है कि व्यक्ति को मर्यादित श्रम की स्वतन्त्रता के साथ क्या उसी हद तक अर्थ की स्वतन्त्रता दी जा सकती है ? पण्डित जवाहरलाल नेहरू पूँजीवाद और समाजवाद इनमें किसी एक के पक्ष में नहीं थे। मुख्यतया वे उत्तराधिकार में प्राप्त महात्मा गाँधी की शिक्षाओं का कार्यान्वित करना चाहते थे । उनका कहना है कि यदि रोटी और कपड़े का प्रश्न हल हो जाय और सबको शिक्षा,

स्वास्थ्य और आमोद–प्रमोद के साधन जुटा दिये जायें तो इन दोनों की बुराई से विश्व की रक्षा की जा सकती है । उन्होंने उन विचारों को अनेक भाषणों द्वारा व्यक्त किया है । यद्यपि पण्डितजी के ये विचार समझौते की भूमिका प्रस्तुत करते हैं अवश्य, पर दूसरी ओर इस कथन पर उतना विश्वास नहीं किया जाता । श्रमवादी तो इसे पूँजीवाद के लिए खुली छूट मानते हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि यह इस युग की प्रधान समस्या है, जिसने इतना उग्र रूप धारण कर लिया है ।

विश्व व्यवस्था में व्यक्ति स्वातन्त्र्य प्रथम शर्त

साधारणतः यह जनमत का युग है । किसी भी देश की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था कैसी हो यह काम वहाँ की जनता के निश्चित करने का है। इस युग में वे ही शिक्षाएँ विश्व की शान्ति और सुव्यवस्था में सहायक हो सकती हैं जो पूर्णतः व्यक्ति–स्वातन्त्र्य की पोषक होने के साथ–साथ व्यक्ति के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन को ऊँचा उठाने में सहायक हों । हमने विश्व के महापुरुषों के जीवन और उनकी शिक्षाओं का अध्ययन किया है । इस दृष्टि से हमारा ध्यान श्रमण भगवान् महावीर पर विशेष रूप से केन्द्रित हो जाता है । इन्होंने श्रम, शम और उसके आधार पर जिन उदार तत्त्वों को अपने जीवन में उतारा था, उनकी विश्व को सदा आवश्यकता बनी रहेगी । उनका ठीक तरह से प्रचार करने पर न केवल विश्व में शान्ति और सुव्यवस्था के निर्माण करने में सहायता मिलेगी, अपितु व्यक्ति के चरित्र–निर्माण का मार्ग भी प्रशस्त होगा ।

मूल प्रवृत्ति और राज्य

यहाँ सर्वप्रथम यह देखना है कि इन महापुरुषों के संघर्ष ने मूल में कौन सी बात देखी । विश्व में संघर्ष क्यों पनपता है और मनुष्य मनुष्य का शत्रु क्यों बनता है ? यह तो निश्चित है कि विश्व का प्रत्येक प्राणी सुख की कामना करता है । उसका सारा श्रम, उद्योग और शक्ति इसी कामना की पूर्ति के लिए है । सर्वश्रेष्ठ चेतन होने से मनुष्य के उद्योग और साधन विकसित हैं । दर्शन में उसके आध्यात्मिक सुख का विश्लेषण है और विज्ञान में भौतिक सुख का अनुसन्धान । मनुष्य ही नहीं पशु–पक्षी और कीट पतंगे भी अपने सुख–साधन का प्रयत्न करते रहते हैं । बाह्य संग्रह के मूल में यही आत्म–सुख की प्रवृत्ति काम करती है । परन्तु जिस तरह मनुष्य की बुद्धि, शक्ति और सुख की आकांक्षा विकसित है उसी प्रकार उसकी लालसा, साधन और संग्रह की भावना प्रबल है । साधारण पशु पक्षियों की जीवन वृत्ति के विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो जाती है । उनमें यह प्रवृत्ति बहुत ही अल्प मात्रा में पाई जाती

है । चींटी आदि कुछ प्राणी ऐसे हैं जिनमें इस प्रवृत्ति की बहुलता देखी जाती है। शेष तिर्यंच अपने–अपने भोजन की खोज में निकलते हैं और उसके मिल जाने पर वे शान्त हो जाते हैं । फिर वे ऐसा कोई काम नहीं करते जिसे समाज–विरोधी कहा जा सके । किन्तु मनुष्यों में यह संग्रह करने की प्रवृत्ति आवश्यकता से अधिक पाई जाती है । ये जितने की आवश्यकता होती है उससे कहीं अधिक का संचय करते हैं और इनका यह काम समाज–विरोधी नहीं माना जाता, प्रत्युत इसके अनुकूल समाज ने कुछ ऐसे नियमों का निर्माण किया है जिनके विरुद्ध आचरण करने वाले को समाज (राज्य) की ओर से कठोर दण्ड भोगना पड़ता है ।

राज्य का विकास

साधारणतः प्रत्येक जीवधारी के लिए जीवन उद्धार के समान आजीविका का प्रश्न अत्यन्त आवश्यक माना गया है । इस भाव को व्यक्त करते हुए एक कवि ने कहा है ।

कला बहत्तर पुरुष की तामें दो सरदार ।

एक जीव की जीविका दुतिय जीव उद्धार ।।

भौतिक शरीर के स्थायित्व के लिए आजीविका मुख्य है और आत्मोद्धार के लिए जीवन संशोधन की कला में अभिज्ञता प्राप्त कर तदनुकूल आचरण करना मुख्य है । प्राचीन नियम यह था कि मनुष्य एक ही मार्ग से आजीविका करे । समाज के संधारण के लिए इस नियम का होना अत्यंत आवश्यक था ।

किन्तु धीरे–धीरे इस नियम में परिवर्तन हुआ और कथित उच्च वर्ग के मनुष्यों को यह अधिकार दिया गया कि वे दूसरे मार्गों से भी आजीविका कर सकते हैं । यान्त्रिक युग के बाद तो इस अव्यवस्था का यह गुण कि एक व्यक्ति पूँजी का अधिक संचय न कर सके और दूसरा व्यक्ति उसके अभाव में भूखों न मर सके' नष्ट हो गया है। राज्य से यह आशा की जा सकती थी कि वह ऐसी स्थिति के निर्माण करने में अपनी शक्ति का उपयोग करे जिससे प्राचीन आर्थिक व्यवस्था में विशेष उलट–फेर किये बिना यह समस्या सुलझ जाय, किन्तु राज्य इस ओर ध्यान देने में असमर्थ रहा। फलतः ऐसी सामाजिक संस्था स्थापित हुई जो पिछली समाज संस्था के विरोधी तत्त्वों की शिक्षा देने लगी । ऊपर हम समाजवाद की चर्चा कर आये हैं। इसका संगठन ऐसे ही तत्त्वों के आधार पर हुआ है ।

पिछली सामाजिक संस्था के अनुसार व्यक्ति पूँजी का अधिकारी माना गया है और राज्य उसकी रक्षा करता है, इसमें यह अधिकार व्यक्ति से छीनकर राज्य को दिया गया है और इसके विरुद्ध आचरण करने वाला व्यक्ति कठोर दण्ड का भागी होता है ।

मूर्च्छा

अब देखना यह है कि जिस आधार पर यह संघर्ष चालू है उसकी तह में कौन सी मनोवृति काम करती है । प्राचीन ऋषियों ने इसका गहराई से विचार किया है। उन्होंने इसका कारण मूर्च्छा को बतलाया है । यह मूर्च्छा ऐसी वृत्ति है जिसके कारण विश्व में अनादि से संघर्ष होते आये हैं और सदा होते रहेंगे । एक व्यवस्था का स्थान दूसरी व्यवस्था लेती है, पर इससे न तो संघर्ष का अन्त होता है और न स्थायी शान्ति ही स्थापित हो सकती है ।

दार्शनिक चिन्तन की भूल

व्यक्ति और राष्ट्र के जीवन में सबसे बड़ी भूल उसके दार्शनिक चिन्तन में यह है कि वह अपने सुख–दुख का एक मात्र आधार बाह्य साधनों के होने न होने पर अवलम्बित मान बैठा है। जिसने जितने अधिक साधनों का संचय कर लिया है वह उतना ही अधिक अपने को सुख मिलने की आशा करता है। साम्राज्यलिप्सा, पूंजीवाद, वर्गवाद, और संस्थावाद यहाँ तक कि समाजवाद भी इसका परिणाम है। ईश्वरवाद को इसी मनोवृत्ति ने जन्म दिया है । जगत् में संघर्ष का बीज यही है । जब मनुष्य इस तत्त्व ज्ञान को स्वीकार कर लेता है कि अन्य से अन्य का हित या अहित होता है तब उसकी अन्तर्मुखी दृष्टि फिर कर बहिर्मुखी हो जाती है । वह बाह्य साधनों के जुटाने में लग जाता है और इस कार्य में सफलता मिलने पर उसे अपने जीवन की सफलता मानता है । जीवन में बाह्य साधनों को सर्वथा स्थान नहीं है, यह बात नहीं है। दृष्टि को अन्तर्मुखी रखते हुए जीवन की कमजोरीवश आवश्यकतानुसार बाह्य साधनों का अवलम्बन लेना एक बात है तथा इसके विपरीत बाह्य साधनों को ही सब कुछ मान बैठना दूसरी बात है ।

अर्थ और विवेक

पूँजी चाहे व्यक्ति के हाथ में रहे या राष्ट्र के हाथ में वह एकमात्र अनर्थ परम्परा की जननी है । अर्थ की गरमी सबसे बड़ी गरमी है । जिसके पास यह पहुँचता है उसे ही पथभ्रष्ट कर देता है । एक ही वस्तु थी जो व्यक्ति और राष्ट्र को इसकी

मूर्च्छा से बचा सकती थी और वह था विवेक । किन्तु इस समय क्या व्यक्ति और क्या राष्ट्र दोनों ही अपने–अपने स्वरूप को भूले हुए हैं । दोनों ही उत्पादन की वृद्धि द्वारा वार्षिक आय के बढ़ाने की फिराक में है । विश्व का यही हाल है । इससे स्वार्थपरता में वृद्धि होकर मानवता का ह्रास हो रहा है । जहाँ देखो वहाँ पैसे की लूट दिखाई देती है। समस्त धर्म–कर्म इसी में समाया हुआ है । जो धार्मिक संस्थाएँ इसकी मूर्च्छा को कम करने के प्रचार के लिए स्थापित की जाती हैं वे धनिकों की जी हुजूर बनी हुई हैं। व्यक्ति धर्म में मूर्च्छा से काम न ले । धर्म मात्र आत्म शुद्धि का साधन बना रहे। जो व्यक्ति राग, द्वेष और मोह पर विजय पाने में असमर्थ है वे तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार सहयोग मूलक अपनी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था बना लें। किन्तु इतना ध्यान रखें कि इस द्वारा किसी व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण न होने पावे । सन्त–परम्परा के इस उपदेश की तरफ आज किसी का ध्यान नहीं है। सब अपने–अपने पद और स्वरूप को भूले हुए हैं । वास्तव में देखा जाय तो इसकी जड़ में एकमात्र मूर्च्छा ही काम कर रही है । पूंजीवादी राष्ट्रों में यह जितनी मात्रा में देखी जाती है, समाजवादी राष्ट्रों में वह उससे कम नहीं है ।

रोग का अचूक निदान मूर्च्छा-शमन

मूर्च्छा को कम करने का मार्ग यह था कि उत्पादन विकेन्द्रीकरण किया जाय। जहाँ हजारों मनुष्य मिलकर एक साथ काम करते है ऐसे कल–कारखाने न खोले जायँ । राष्ट्र के लिए जितने माल की आवश्यकता है उतना ही उत्पादन किया जाय। जिन वस्तुओं के बिना दूसरे राष्ट्रों का काम नहीं चलता हो वे वस्तुएँ ही उन राष्ट्रों को दी जायँ और बदले में ऐसी वस्तुएँ ही स्वीकार की जायँ जिनके बिना यहाँ का काम नहीं चलता । भौतिक विज्ञान को विशेष प्रोत्साहन न देकर आध्यात्मिक विज्ञान को ही प्रमुखता दी जाय । संहारक अस्त्रों का निर्माण सर्वथा बन्द कर दिया जाय। रक्षा की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की जाय । किन्तु इस समय सब काम इससे विपरीत हो रहे हैं और फिर रट लगाई जाती है कि विश्व में स्थायी शान्ति की स्थापना होनी चाहिए । शान्ति आत्मा का परिणाम है । वह भौतिक–साधनों के बल पर नहीं प्राप्त की जा सकती है । व्यक्ति जिस तरह राष्ट्र की इकाई है, उसी प्रकार उसकी मूर्च्छा भी राष्ट्रीय मूर्च्छा का अंग है और राष्ट्रीय मूर्च्छा विश्व मूर्च्छा का ही अंग है । यहाँ राष्ट्रीय मूर्च्छा और राष्ट्रीय प्रेम का भेद स्पष्ट समझ लेना चाहिए । मूर्च्छा का अर्थ है जीवन संशोधन के विरुद्ध पड़ने वाले साधनों में अपनत्व की भावना । जिस भावना के कारण व्यक्ति मात्र भौतिक इकाई में सब सुख साधनों को बटोरने का प्रयत्न करता है वह मूर्च्छा ही है । व्यक्तियों की यही संकुचित स्वार्थमय ममता विकसित होकर

राष्ट्रीय मूर्च्छा या स्वार्थों को जन्म देती है, प्राचीन भारतीय ऋषियों ने राष्ट्रीय विकास में व्यक्ति के शुद्ध विकास की शर्त इसीलिये रखी थी। पश्चिमी राष्ट्र राष्ट्रीयता की झोंक में व्यक्ति के चरित्र विकास को महत्व नहीं देते, इसलिए मुट्ठी भर राजनीतिज्ञ अपने राजनीतिक प्रभाव से जब चाहें समूचे विश्व को विक्षुब्ध कर सकते हैं। पिछले दो महायुद्ध इसके ज्वलंत प्रमाण हैं। प्रश्न है इस मूर्च्छा–संकुचित राष्ट्रीय स्वार्थ का उन्मूलन कैसे हो? व्यक्तित्व या राष्ट्रीयता की ओट में भौतिक आकांक्षाओं का विस्तार कर क्या विश्व में सुख–शान्ति स्थापित की जा सकती है? पूँजीवाद व्यक्ति की आकांक्षा और उसकी पूर्ति के साधनों पर प्रतिबन्ध नहीं लगाता और समाजवाद केवल पूर्ति के साधनों का समाजीकरण तो चाहता है पर आकांक्षाओं को सीमित करना अभी उसके लक्ष्य में नहीं आया है। पूँजीवाद प्रस्तुत विषमता का ऐसा ही गलत निदान और उपचार है, इसलिए उसका मूलोच्छेद जरूरी है। समाजवाद का बाह्य उपचार ठीक है पर निदान ठीक न होने से वह स्थायी नहीं है। वह आर्थिक दबाव पड़ने पर पुनः विषमता का रूप धारण कर सकता है। व्यवस्थायें बाह्य उपचार हैं। रोग का अचूक निदान है मूर्च्छा–शमन। वह भीतर से उठती है और जब तक इस मूलवृत्ति का शोधन नहीं होता तब तक शान्ति और सुव्यवस्था दुराशामात्र है।

स्वतन्त्रता का अर्थ

अब प्रश्न यह है कि इस मूर्च्छा के त्याग के लिए व्यक्ति और राष्ट्र किस मार्ग को स्वीकार करें। यह तो मानी हुई बात है कि मानव इतिहास और दर्शन का अन्तिम निचोड़ है व्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता और चरम विकास। यहाँ स्वतन्त्रता शब्द विचारणीय है। 'स्व' और 'तन्त्र' इन दो शब्दों का मिलकर अर्थ होता है अपना शासन। इसका भावरूप अर्थ हुआ स्वाधीनता। प्रत्येक व्यक्ति का अन्य के आधीन न होकर मात्र अपने आधीन होना ही उसकी स्वतन्त्रता है। जब कोई व्यक्ति अन्य व्यक्ति के अधिकार में होता है तब वह पराधीन कहलाता है। दूसरे के अधिकार में रहकर व्यक्ति इच्छानुसार अपना विकास नहीं कर पाता। बात–बात में वह परमुखापेक्षी बना रहता है। वस्तुतः उसकी यह पराधीनता आरोपित है। सनातन प्रक्रिया से उसमें जो कमजोरियाँ आ गई हैं वही यह सोचने के लिए प्रेरित करती हैं कि अन्य का सहारा लिये बिना उसका काम नहीं चल सकता। यही धारणा उसकी परतन्त्रता है और इससे मुक्ति पाना ही उसकी स्वतन्त्रता है।

स्वतन्त्रता, यह जड़–चेतन प्रत्येक वस्तु का नैसर्गिक अधिकार है। इसका ठीक तरह से ज्ञान होने पर व्यक्ति की मूर्च्छा अपने आप कम होने लगती है। श्रमण भगवान्

महावीर ने इस नैसर्गिक अधिकार की ओर विश्व का ध्यान आकृष्ट किया था। इन्होंने गम्भीर वाणी में कहा था —

"आवुसो ! अपनी स्वतन्त्रता के समान सबकी स्वतन्त्रता का अनुभव करो। जब कोई व्यक्ति किसी अन्य वस्तु को अपने अधिकार में करने की इच्छा करता है तब वह उसे अपने अधिकार में करने में तो समर्थ नहीं होता, मात्र स्वयं वह अपनी इच्छाओं का दास बन जाता है !"

विश्व के प्रत्येक व्यक्ति के इस नैसर्गिक अधिकार को समझना है । राज्य ने इसकी स्वीकृति दी है अवश्य, पर वह औपचारिक है । इसके आध्यात्मिक रहस्य को समझे बिना जीवन में व्यक्ति–स्वातन्त्र्य की पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं हो सकती ।

विविध दर्शन और जगत्

यों तो प्रागैतिहासिक काल से विविध सिद्धान्तों की सृष्टि होती आई है। मानवीय कमजोरियों ने भी इनके निर्माण में बहुत कुछ हाथ बँटाया है । इन सिद्धान्तों का जीवन के उत्थान और पतन से घनिष्ठ सम्बन्ध है । इस युग में जिन समस्याओं को राजनीतिक आधार से सुलझाया जाता है पूर्व काल में उनके हल करने में धार्मिक दृष्टि की मुख्यता रहती थी। धर्म का दर्शन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। सुपाच्य या दुष्पाच्य जैसा भी भोजन मिलता है उसी के अनुरूप जीवन का निर्माण होता है। दर्शन जीवन का सबसे बड़ा भोजन है। इसका व्यक्ति और राष्ट्र के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। विश्व क्या है और व्यक्ति का उसके साथ क्या सम्बन्ध है ? यह समस्या निर्विवाद रूप से अभी तक नहीं सुलझ सकी है । इसके अस्तित्व के विषय में 'है' और 'न' का झगड़ा अभी तक लगा हुआ है । और भी ऐसे प्रश्न हैं जो विचारकों को उलझन में डाले हुए हैं । उनमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता और परतन्त्रता से सम्बन्ध रखने वाला प्रश्न मुख्य है । वेदान्त तथा उससे सम्बन्ध रखने वाले अधिकतर दर्शन यह मानने के लिए कभी तैयार नहीं है कि व्यक्ति स्वतन्त्र अपने में कुछ है या वह पृथक् होकर भी अपने जीवन के लिए स्वयं उत्तरदायी है । भारतवर्ष में इन दर्शनों का बड़ा विकास हुआ है पर दूसरे राष्ट्रों पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ा है । समस्त व्यवस्थाएँ और उनके दुष्परिणाम इन दर्शनों के प्रयोगों का ही फल हैं ।

किन्तु दूसरी ओर ऐसे दर्शनों का भी उदय हुआ है जिसने विश्व की समस्त समस्याओं को व्यक्ति स्वातन्त्र्य के आधार पर सुलझाने का प्रयत्न किया है । इसकी घोषणा है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यों में से न तो कुछ निकाल ही सकता है और न

उसमें कुछ मिला ही सकता है । किन्तु जिस काल में द्रव्य की जैसी योग्यता होती है तदनुरूप उसका परिणमन होता है । जीवन में निमित्त का स्थान है अवश्य, पर वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अपहरण करने में असमर्थ है ।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता इस दर्शन की रीढ़ है । यह दर्शन मानवीय कल्पना और उसके स्वार्थों की अपेक्षा विश्व के तथ्यपूर्ण जीवन क्रम को ध्यान में रखकर विश्व का अवलोकन करता है। यद्यपि अब तक मानव जगत् में इसके उक्त मौलिक सिद्धान्त की अवहेलना होती आई है, पर इससे उसकी उपयोगिता में अन्तर नहीं आता ।

इसने जगत् की समस्त समस्याओं का मूल कारण, व्यक्ति की कमजोरी बतलाया है और वह कमजोरी है व्यक्ति की मूर्च्छा, इसलिए यह उन समस्याओं के हल के लिए बाह्य व्यवस्थाओं की अपेक्षा व्यक्ति की ओर राष्ट्र की अन्तःशुद्धि पर अधिक जोर देता है ।

व्यक्ति स्वातन्त्र्य और अपरिग्रहवाद

जैसा कि हम पहले बतला आये हैं कि विश्व में जड़-चेतन जितने भी पदार्थ है वे सब स्वतन्त्र हैं, कोई किसी के अधीन नहीं है । फिर भी यह प्राणी मूर्च्छावश अन्य बाह्य-साधनों का संग्रह करता है और उनका अपने को स्वामी मानता है या उनमें इष्टानिष्ट कल्पना कर सुखी-दुःखी होता है । किन्तु व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त के साथ इस भावना का कोई मेल नहीं बैठता । इन दोनों में पूर्व-पश्चिम का अन्तर है । जिसने व्यक्ति स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त को अपने जीवन में स्थान दिया है वह यह अनुभव करता है कि ये धन, पुत्र, स्त्री, मकान और शरीर आदि भिन्न हैं। इनका परिग्रह मेरा स्वरूप नहीं है । मेरा स्वरूप तो मात्र जानना देखना है । इसलिए वह मानता है कि जो व्यक्ति या राष्ट्र इन्हें अपनी उन्नति का साधन मानकर इनका अधिकाधिक संग्रह करना चाहता है वह न तो कभी सुखी हुआ है और न हो सकता है । इनसे सुख मिलता है ऐसा मानना भी भ्रम है। जैसा कि हम पहले बतला आये हैं कि सुख आत्मा का स्वभाव है । उसकी प्राप्ति के लिए अपनी ओर ही देखना होगा, इन बाह्य साधनों की ओर नहीं । क्योंकि इनका त्याग किये बिना व्यक्ति स्वातन्त्र्य की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती ।

श्रमण भगवान् महावीर ने अपने जीवन के विविध प्रयोगों द्वारा विश्व को एकमात्र यही शिक्षा दी थी । श्रमण होने के पहले उनके हाथ में राज्य था । लेकिन उनके विचार उस राज्य सत्ता बल पर नहीं फैल सकते थे और न उससे विश्व शान्ति का

मार्ग ही प्रशस्त हो सकता था । उन्होंने देखा कि विश्व के लिए व्यक्ति–स्वातन्त्र्य की शिक्षा अनिवार्य है । उन्हें विश्व के मानव समाज को यह अनुभव कराना था कि यह जमीन, यह धन और यहाँ तक कि शरीर, वाणी और मन भी उसका नहीं है । वह तो मात्र इन सबका ज्ञाता–दृष्टा है । इसलिये स्वयं उन्होंने व्यक्ति स्वातन्त्र्य को प्रतिष्ठित करने के लिए एकमात्र अपरिग्रहवाद का मार्ग अपनाया था । उनकी घोषणा थी कि अपरिग्रही होना स्वतन्त्रता–प्राप्ति की प्रथम शर्त है । व्यक्ति स्वतन्त्र होना चाहे और वह अपने जीवन में मूर्च्छा का त्याग कर पूर्ण स्वावलम्बन को स्वीकार न करे, वह बाह्य साधनों के व्यामोह में उलझा रहे यह नहीं हो सकता । जो राष्ट्र या व्यक्ति स्वतन्त्र होना चाहता है, उसे अपने दैनंदिन के जीवन में स्वावलम्बन का व्रत स्वीकार करना ही होगा । अपरिग्रहवाद इसके सिवा और क्या सिखाता है । जो अपना नहीं है उसके परिग्रह में आसक्ति मत करो, यही तो उसकी शिक्षा है ।

श्रमण भगवान् महावीर अपरिग्रहवाद के मूर्तमान स्वरूप थे । उन्होंनें अपने जीवन में ऐसी कोई गाँठ बाँध कर नहीं रखी थी जो कि उन्हें पीछे की ओर धकेलती हो। वे जाति, लिंग, वय, स्वदेश, विदेश आदि सब प्रकार के विकल्पों से परे थे । उनकी एक मात्र शिक्षा थी कि पर पर है । उसका स्वीकार जीवन के पतन का कारण है।

अपरिग्रहवाद की व्यावहारिक शिक्षा

अब देखना यह है कि अपरिग्रहवाद के सिद्धान्त को अपने व्यावहारिक जीवन में कैसे उतारा जाय । अपरिग्रहवाद का अर्थ है परिग्रहवाद का अभाव । परिग्रह के दो भेद हैं – बाह्य और आभ्यन्तर । इनमे आभ्यन्तर–परिग्रह मुख्य है । इसका दूसरा नाम मूर्च्छा है । बाह्य–परिग्रह इसके सद्भाव में होता है । इसी से अधिकतर विचारकों ने मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा है । मूर्च्छा– यह समस्त दुर्गुणों का मूल है और व्यक्ति स्वातन्त्र्य का अपहरण करने वाली है । किसी व्यक्ति या राष्ट्र को अपना उत्थान करने के लिए इसका त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है ।

परिग्रहत्याग के दो मार्ग हैं – साधुमार्ग और गृहस्थमार्ग ।

साधु वह होता है जो अपने दैनंदिन जीवन में पूर्ण स्वावलम्बन की प्रतिज्ञा कर भौतिक साधनों का मात्र शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कम से कम उपयोग करता है । वह भौतिक साधनों का न तो अर्जन करता है और न संचय ही । उपयोग ऐसे साधनों का करता है जो सार्वजनिक होते है। । उदाहरणार्थ वह ऐसे मकान,

मठ या गुफा आदि में उठता–बैठता है जहाँ प्राणी मात्र को आने–जाने की किसी प्रकार की रुकावट नहीं होती है । भोजन भी किसी गृहस्थ के स्वेच्छा से देने पर ही लेता है । सो भी दिन में एक बार लेता है । केशों के बढ़ जाने पर उनका अपने हाथ से उत्पाटन करता है । इसके लिए कैंची आदि का उपयोग नहीं करता । यात्रा पैदल करता है । सवारी का उपयोग नहीं करता। सब ऋतुओं में नग्न रहता है । वस्त्र को मूर्च्छा का कारण जानकर उसका पूर्ण रूप से त्याग कर देता है । गृहस्थों से अधिक ममता न बढ़ जाय इसलिए आवश्यकतानुसार नगर में अधिक से अधिक पाँच दिन और ग्राम में एक दिन ही ठहरता है । उसमें भी नगर या ग्राम के बाहर ही ठहरता है । मात्र भोजन के लिए नगर या ग्राम में आता–जाता है । भोजन के लिए पात्र का उपयोग नही करता। दोनों हाथों की अंजुलि बनाकर उससे भोजन का काम सम्पन्न करता है। भोज खड़े–खड़े लेता है और इसके लिये गृहस्थों को उत्साहित नहीं करता।

साधु को केवल तीन उपकरण रखने की अनुज्ञा है – पीछी, कमण्डलु और शास्त्र । पीछी भूमि शोधन के काम आती है, कमण्डलु मल–मूत्र के विसर्जन करने पर शुद्धि के काम आता है और शास्त्र ज्ञानार्जन का साधन है ।

अधिकतर लोगों को साधु की यह चर्या व्यवहार में अटपटी सी दिखायी देती है । वे इसे निठल्ले लोगों की व्यर्थ की उठाठेव मानते हैं । हम यह जानते हैं कि साधु संस्था दूषित हो गयी है और ऐसे लोगों की कमी नहीं जो मात्र पेट भरने के लिए साधु बनते हैं । पर इससे साधु मार्ग की व्यर्थता नहीं सिद्ध की जा सकती है। साधु का जीवन–यापन करना अध्यात्मशोधन का सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। जो जीवन में सच्चा साधु है वह समाज से जितना लेता है उससे कहीं अधिक देता है । समाज ने इस संस्था के महत्त्व को भुला दिया है या वह ऐसे लोगों के पीछे लग गई है जो या तो ढोंगी हैं या आलसी । वास्तव में हमें साधुचर्या के उक्त नियमों का बारीकी से अध्ययन करना चाहिये । उनसे एकमात्र स्वावलम्बन की ही शिक्षा मिलती है। भला विचारिये तो कि व्यक्ति स्वातन्त्र्य को प्रतिष्ठित करने का उत्तम मार्ग और क्या हो सकता है ?

श्रमण भगवान् महावीर और उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों ने उक्त चर्या को अपने जीवन में अच्छी तरह से उतारा था । उन्होंने अपने अनुयायी साधुओं को भी एकमात्र इसी चर्या की शिक्षा दी थी । सम्भवतः बुद्धदेव से उनका इसी बात में मतभेद था। बुद्धदेव मध्यम मार्ग के पक्षपाती थे। उनकी शिक्षाओं से ज्ञात होता है कि उन्हें वैदिक

धर्म और श्रमण धर्म के मध्य का मार्ग अधिक पसन्द था। पर उनका यह कार्य महावीर की आत्मा को टस से मस न कर सका । वे दृढ़ निश्चयी और कठोर अनुशासन के पूर्ण पक्षपाती थे । कैवल्य लाभ के बाद तो उनकी आत्मा और भी निखर उठी थी। उन्हें सम्यक् प्रकार से ज्ञात था कि मात्र इस मार्ग के अनुसरण करने से ही संसारी प्राणी मुक्ति का अधिकारी होता है । इसलिए उन्होंने अपने अनुयायी साधुओं को न केवल परिग्रह का पूर्ण रूप से त्याग करने का उपदेश दिया था, अपितु आत्मसंशोधन की दृष्टि से इसका कठोरता से पालन भी कराया था ।

परिग्रहवाद त्याग का दूसरा मार्ग है गृहस्थ धर्म । गृहस्थ का अर्थ है घर में रहने वाला । घर उपलक्षण है । इससे वे सभी भौतिक या दूसरे साधन लिये गये हैं जिनके बिना जीवन यापन करने में गृहस्थ अपने को असमर्थ अनुभव करता है । वह जीवन की कमजोरीवश बाह्य–साधनों का अवलम्बन तो लेता है, पर उनका परिमाण करता है। इसे गृहस्थ का परिग्रह परिमाणव्रत कहते हैं। जैन–शास्त्रों में इसकी विस्तृत चर्चा देखने को मिलती है। वहाँ इस व्रत के व्यावहारिक उपयोग का सावधानीपूर्वक सर्वांग विचार किया गया है ।

प्राचीन काल में बाह्य–परिग्रह क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य और भाण्ड इन दश भागों में विभक्त किया गया था । यह विभाग उस समय का है जब देश में दास–दासी प्रथा प्रचलित थी । यह भी हो सकता है कि जिस प्रदेश में दास–दासी प्रथा चालू हो उसे ध्यान में रखकर ये भेद किये गये हों। जैन धर्म के अनुसार प्रत्येक गृहस्थ को इस दश प्रकार के परिग्रह का परिमाण करना पड़ता है। वह आवश्यकता से अधिक का संचय नहीं कर सकता। आवश्यकता तात्कालिक रहन–सहन से आँकी जाती है। प्रथम शर्त यह है कि कोई भी अन्य व्यक्ति अन्याय मार्ग से आजीविका नहीं कर सकता। न्यायवृत्ति का अर्थ राज्य के नियमों के अनुसार अर्थ का उपार्जन करना तो है ही। साथ ही आवश्यकता से अधिक का संचय न करना भी इसमें गर्भित है। इसके सिवा आचार–ग्रन्थों में कुछ से ऐसे भी नियम बतलाये हैं, जिनसे व्यक्ति की इच्छा को सीमित करने में सहायता मिलती है । प्रथम तो प्रत्येक गृहस्थ को यह नियम करना पड़ता है कि वह यावज्जीवन आजीविका निमित्त या इसी प्रकार दूसरे कार्य निमित्त अमुक क्षेत्र के बाहर नहीं जायेगा। साथ ही उसे यह भी नियम करना पड़ता है कि अमुक समय तक इतने क्षेत्र के बाहर नहीं जायगा। प्रथम प्रकार की मर्यादा का क्षेत्र विस्तृत होता है और दूसरे प्रकार की मर्यादा अमुक समय के लिए उस क्षेत्र को संकुचित करती है। इससे यावज्जीवन तक क्षेत्र की मर्यादा विस्तृत होने पर भी प्रतिदिन का व्यवहार क्षेत्र सीमित होता रहता है।

यद्यपि वर्तमान में इस पद्धति के अनुसार गृहस्थों का वर्तन नहीं पाया जाता है और न राष्ट्र का ही इस ओर ध्यान है तथापि इससे इस पद्धति को अव्यावहारिक नहीं ठहराया जा सकता । वस्तुतः समाजवाद और पूँजीवाद की ऐकान्तिक बुराई को दूर कर व्यक्ति स्वातन्त्र्य की प्रतिष्ठा करने वाला यही एक ऐसा मार्ग है, जिसे जीवन में स्वीकार किये बिना विश्व शान्ति की कल्पना साकार रूप नहीं ले सकती ।

अभी विश्व शान्ति सम्मेलन के निमित्त से भारत में देश–विदेश के अनेक प्रतिनिधि इकट्ठे हुए थे । यों तो ये सभी प्रतिनिधि सेवाभावी और विश्व शान्ति के इच्छुक थे । किन्तु इनमें से विश्व शान्ति की प्रेरणादायिनी शक्ति यदि किसी से प्राप्त की जा सकती है तो वे थे स्वीडन निवासी स्वेन एरिक राइबर्ग । इन्होंने अपने जीवन को एक प्रकार से अपरिग्रही बना लिया है । इसका कठोरतापूर्वक पालन करते हैं। अन्य प्रतिनिधियों के साथ इन्हें भी ताजमहल होटल में ठहराया गया था । यह देख इन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ । परिणामस्वरूप इन्होंने वहाँ ठहरना अस्वीकार कर दिया। वे वहाँ जाकर ठहरे जहाँ भारत की सच्ची आत्मा निवास करती है । उस समय वहाँ उन्होंने जो उद्‌गार प्रकट किये थे वे अन्धकार में भटकने वाले विश्व को प्रकाश का काम देते हैं। वे कहते हैं –

'हम उस भारत को देखने आये हैं जहाँ बैठकर विश्व का शान्तिदूत शान्तिसूत्र का संचालन करता था ।'

अपरिग्रहवाद की व्यावहारिक शिक्षा का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है।

सन्त परम्परा और अपरिग्रहवाद

जहाँ तक जैन तीर्थंकरों की चर्या का सम्बन्ध है उन्होंने परिग्रह को कभी भी अपने पास नहीं फटकने दिया था। उनकी परम वीतराग, शान्तिदायिनी नग्न–मुद्रा आज भी विश्व के संतप्त हृदय को शीतलता प्रदान करती है । वह मौन भाव से एकमात्र यही शिक्षा देती है –

उत्तम शौच सर्व जग जाना। लोभ पापकौ बाप बखाना ।।
आशाफांस महा दुखदानी। सुख पावै सन्तोषी प्रानी ।।

● ● ●

उत्तम आकिंचन गुण जानौ । परिग्रह चिन्ता दुख ही मानौ ।।
फांस तनक सी तन में सालै। चाह लँगोटी की दुख भालै ।।

साधारणतः हम देखते हैं कि विश्व का बहुभाग जैन तीर्थंकरों की इस आदर्श गरिमा को नहीं समझ सका है । अधिकतर व्यक्ति उनकी नग्न–मूर्ति देखकर विकार का अनुभव करते हैं । हम तो इस सम्बन्ध में इतना ही कहेंगे कि –

"जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ।।"

फिर भी हमारी समझ से यह उत्तर सही होकर भी अपूर्ण है । मुख्य झगड़ा आदर्श का है, इसलिए हम इस तत्त्व के भीतर घुस कर छानबीन करना चाहेंगे। थप्पड़ का उत्तर थप्पड़ से देने में कोई लाभ नहीं है। देखना यह है कि मात्र भौतिक साधनों का अवलम्बन लेना ही व्यक्ति का जीवन है या उसका वास्तविक जीवन इससे कोई भिन्न वस्तु है । जहाँ तक सन्तों का अनुभव है उन्होंने सदा ही बाह्य–साधनों का स्वीकार करना जीवन की सबसे बड़ी कमजोरी माना है। तीर्थंकरों के समान जीसस क्राइस्ट ने भी इस सत्य को समझा था । तभी तो उन्होंने कहा था कि –

सुई के छेद से ऊँट जा सकेगा, लेकिन पैसे का मोह रखने वाला अहिंसा का साक्षात्कार नहीं कर सकेगा, चाहे नाम उसका वह लेता रहे ।'

बहुत दूर की बात जाने दीजिये । महात्मा गाँधी की जीवन चर्या का अध्ययन करने से ही यह बात साफ हो जाती है कि जीवन को पूर्ण स्वावलम्बी और निर्विकार बनाने के लिए बाह्य आलम्बन का त्याग करना परम आवश्यक है । उन्होंने इस सत्य को छिपाने का भी प्रयत्न नहीं किया । अपरिग्रहवाद की महत्ता पर किये गये उनके विवेचन का सार है –

'नग्नता आत्मा के निर्विकारीपन का चिह्न है । निर्विकारी सदा नग्न रहता है। उसे आच्छादन की क्या आवश्यकता।'

वर्णीजी[१] ने अपने जीवन का बहुभाग अपरिग्रहवाद की शिक्षा में बिताया है । कभी–कभी इस विषय की चर्चा करते हुए वे अपने को खोये हुए सा अनुभव करने लगे हैं। यह उनका प्रतिदिन का कार्य है । इस विषय में वे क्या कहते हैं यह उन्हीं के शब्दों में पढ़िये –

'संसार में जितने पाप हैं उनकी जड़ परिग्रह है । आज जो भारत में बहुसंख्यक मनुष्यों का घात हो गया है तथा हो रहा है उसका मूल कारण परिग्रह ही है । यदि

---

१. (जैन परम्परा के वर्तमान संत–न्यायाचार्य पं० गणेशप्रसाद जी वर्णी)

हम इससे ममत्व घटा देवें तो अगणित जीवों का घात स्वयमेव न होगा । इस अपरिग्रह के पालन से हम हिंसा पाप से मुक्त हो सकते हैं और अहिंसक बन सकते है। श्री वीर प्रभु ने तिलतुषमात्र परिग्रह न रखने के पूर्ण अहिंसा व्रत की रक्षा कर प्राणियों को बता दिया कि यदि कल्याण करने की अभिलाषा है तब दैगम्बर पद को अंगीकार करो। यही उपाय संसार बन्धन से छूटने का है'।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्व में जितने भी सन्त पुरुष हुए हैं उन्होनें एकमात्र यही शिक्षा दी है कि भौतिक साधनों के बल पर कभी भी कोई व्यक्ति या राष्ट्र अपनी उन्नति करने में समर्थ नहीं होता है। इससे मात्र पशुता ही फूलती–फलती है ।

अध्यात्म जीवन की रक्षा सर्वोत्कृष्ट मार्ग

यह तो मानी हुई बात है कि राष्ट्र या विश्व जिस नीति को अपनाता है उसका प्रभाव व्यक्ति के जीवन पर अवश्य पड़ता है। ऐसे बहुत ही कम व्यक्ति हैं जो अपने मानवीय गुणों द्वारा राष्ट्र या विश्व को प्रभावित करते हैं । मुख्य प्रश्न समाज का है। उसने एक प्रकार से अपने आध्यात्मिक जीवन को भुला दिया है । वह केवल भौतिक साधनों के बल पर विश्व–शान्ति की कल्पना किये हुए है। अशान्ति कोई नहीं चाहता पर इसे दूर कैसे किया जाय इस ओर किसी का ध्यान नहीं है ।

जैसा कि हम पहले ही बतला आये हैं कि जीवन में भौतिक साधनों का स्थान है अवश्य, पर इसकी एक मर्यादा है। अध्यात्म जीवन व्यक्ति की निजी सम्पत्ति है। सर्वप्रथम उसकी रक्षा को प्रमुखता देनी होगी । अपरिग्रहवाद की शिक्षा इसका अपरिहार्य परिणाम है । राज्य की नीति ऐसी होनी चाहिए जिससे इस दिशा में व्यक्ति को अधिक से अधिक प्रभावित किया जा सके । महात्मा गाँधी ने इसकी महत्ता अनुभव की थी। उसे वे साकार रूप देना चाहते थे । लेकिन उनके बाद का भारत कुछ और ही बनना चाहता है। शायद वह अमेरिका बनेगा। तब क्या वह विश्व को शान्ति का सन्देश देने का अधिकारी रह सकेगा ।

हम यह कभी भी मानने लिए तैयार नहीं हैं, हम ही क्या कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति यह नहीं मान सकता कि पश्चिमीय ढंग पर कल–कारखानों, भौतिक प्रयोगशालाओं और यातायात के साधनों का विस्तार करने पर भारत अपनी आध्यात्मिकता की रक्षा कर विश्व को शान्ति पथ पर ले चलने में समर्थ हो सकेगा। आज का अणुबम और हाइड्रोजन बम इसी नीति का परिणाम है। युद्ध से युद्ध को प्रोत्साहन मिलता है और आध्यात्मिकता का लोप होता है।

१. वर्णी वाणी

अर्थ का सम्बन्ध मानव जीवन से है अवश्य, लेकिन जीवन का एकमात्र यही प्रश्न मुख्य नहीं है । बल्कि व्यक्ति की अपनी भावनाएँ भी उसके साथ है। इनमें से किसी एक की अवहेलना नहीं की जा सकती ।आर्थिक ढाँचे को केवल निष्प्राण मशीन बनाना उचित नहीं है । आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक राष्ट्र ऐसी नीति स्वीकार करे जिससे आर्थिक सन्तुलन के साथ व्यक्ति को अपने आध्यात्मिक जीवन के विकास में पूरी सुविधा मिलती रहे ।

पहले हम अपरिग्रहवाद की विस्तार से चर्चा कर आये हैं । व्यक्ति के जीवन पर उसकी व्यावहारिक शिक्षा का क्या प्रभाव पड़ता है इसका भी हम निर्देश कर आये हैं । साधारण नियम यह है कि व्यक्तियों के निर्माण से ही विश्व का निर्माण होता है । सन्त पुरुषों ने इसकी महत्ता हृदयंगम की थी । किन्तु राजनीतिज्ञ आज इस तत्त्व को भूले हुए हैं । वे शक्ति के बल से विश्व पर अपनी व्यवस्था लादना चाहते हैं । यदि सचमुच में उनके मस्तिष्क में यह बात समाई हुई है कि विश्व में शान्ति स्थापित होनी चाहिये, चाहे उसके लिए कितना ही बड़ा मूल्य क्यों न चुकाना पड़े तो सर्वप्रथम उन्हें ऐसी शिक्षाओं की ओर ध्यान देना होगा जो मानवता की पूर्ण प्रतिष्ठा करने में सहायक हो सकें । केवल विश्व शान्ति का ढिंढोरा पीटने मात्र से विश्व शान्ति स्थापित नहीं हो सकती ।

हमने विश्व शान्ति के साधनों पर सावधानीपूर्वक विचार किया है । उसका एकमात्र उपाय अपरिग्रहवाद की शिक्षा है । इसके लिए निम्नलिखित योजना लाभप्रद हो सकती है ।

साधु संस्था के संगठन को मात्र स्वावलम्बन के आधार पर बढ़ावा दिया जाय।

साधु संस्था को साम्प्रदायिक दलबन्दी से मुक्त रखा जाय ।

व्यक्ति के सदाचार पर विशेष ध्यान दिया जाय । यह कार्य साधु संस्था के जिम्मे किया जाय । साधु संस्था अलिप्त भाव से इस कार्य की सम्हाल करे।

विश्वविद्यालयों में औद्योगिक शिक्षा के साथ चरित्र निर्माण की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाय ।

समाज में स्वावलम्बन और अपरिग्रहवाद की शिक्षा देने वाली धार्मिक संस्थाओं को ही प्रमुखता दी जाये ।

उन सिद्धान्तों की शिक्षा, जो व्यक्ति स्वातन्त्र्य के मार्ग में रोड़ा है, तत्काल बन्द की जाये ।

सम्प्रदायवाद, ईश्वरवाद और जातीयता का जिन उपायों से अन्त हो वे उपाय अमल में लाये जायें ।

श्रम किसी प्रकार का ही क्यों न हो, राष्ट्रीय सम्पत्ति समझ कर उसकी पूर्ण प्रतिष्ठा की जायें ।

प्रत्येक गाँव को स्वावलम्बी बनाने की दृष्टि से गृह उद्योग को प्रोत्साहन दिया जाय।

बड़े–बड़े कल–कारखाने न खोले जायें । जो हैं या जिनका निर्माण किये बिना राष्ट्र का काम नहीं चल सकता, उनका एकाधिपत्य व्यक्ति के हाथ में न रह सके इसकी तत्काल व्यवस्था की जाये ।

प्रत्येक देश की सरकार के रहन–सहन का ढंग आडम्बरपूर्ण और भयोत्पादक न हो, इस ओर ध्यान दिया जाये ।

जनसाधारण के जीवन स्तर को ध्यान में रखकर ही सरकारी नौकरी का मान निश्चित किया जाये।

आज का प्रश्न

इस बीसवीं शताब्दी में किसी भी देश में जितनी अधिक उत्क्रांति दिखायी देती है संभव है इस उत्क्रांति का इतना अधिक व्यापक रूप पहिले कभी भी नहीं हुआ होगा। यह ठीक है कि पहिले भी उत्क्रांतियाँ और संघर्ष होते थे परन्तु उन सबका उद्देश्य कुछ और ही था। एक काल ऐसा था जब एक जाति दूसरी जाति पर अपनी धार्मिक भावनाओं के प्रचार करने के लिए अतिक्रमण करती थी। कहीं कहीं पर इन अतिक्रमणों का कारण साम्राज्य पिपासा भी रहा करती थी । यह सब होते हुए उनका परिणाम व्यापक और सुदूर प्रदेश तक नहीं होता था। परन्तु आज की परिस्थिति कुछ निराली है। आज की सभ्यता ने हमें रेल, तार, हवाई जहाज आदि सब कुछ दिये, पहिले की दास्यपद्धति में कुछ परितर्वन भी दिखाई देता है। प्रत्येक जाति और देश स्वतन्त्र होना चाहिए यह भावना भी जागृत हो उठी है। प्रयत्न भी उसी दिशा में चालू है । फिर भी जो देश जितना अधिक स्वतन्त्रता का धडपड करता है वह उतना ही अधिक दास्यता के बंधनों में बँधता जा रहा है। जो देश आज हमें स्वतन्त्र दिखाई देते हैं और कितने दिन अपनी स्वतंत्रता को स्थिर रख सकेगे इसमें आज सन्देह उत्पन्न होने लगा है। वे बलाढ्य राष्ट्र जिनकी शक्तियाँ दूसरे देशों के भविष्य का भी निश्चय करती हैं यही खेल उनको और कब तक खेलने के लिए मिल सकेगा इसमें आज सन्देह उत्पन्न होने लगा है। जहाँ देखो वहीं संशय का वातावरण फैला हुआ है । राज्य कार भार की अन्तिम दुहेरी नीति का सर्वत्र उपयोग होने लगा है । किसी भी राष्ट्र का दूसरे देश पर विश्वास नहीं रहा । एक दूसरे देशों के परस्पर तह भी होते हैं परन्तु वे शान्ति के तह न होकर अपने चारों ओर फैले हुए दूषित वातावरण के विस्फोट मात्रं हैं । परिणाम भी उनका जैसा होना चाहिये वह न होकर उल्टा ही रहता है । परस्पर विश्वास और प्रेम को उत्पन्न करने के लिए यूरोप खण्ड में राष्ट्रसंघ इस संस्था का निर्माण हुआ है । अमेरिका को छोड़कर प्रायः सभी बलाढ्य देशों ने उसमें भाग लिया परन्तु उससे रक्षा का प्रश्न हल न हो सका । एक दो जगह राष्ट्रसंघ को सफलता नहीं मिली होगी यह बात नहीं परन्तु उसका कारण राष्ट्रसंघ की शक्ति नहीं कही जा सकती है । यदि सफलता राष्ट्रसंघ की संघठित शक्ति का परिणाम कहा जाये तो जापान के मंचूरिया और इटली के अबसीनिया को अपने फौलादी पंजों में जकड़ते समय राष्ट्रसंघ कहाँ गया था। मजा तो यह है कि इटली अबसीनियों के ऊपर ताण करते समय भी वह राष्ट्रसंघ का सदस्य ही बना रहा। राष्ट्रसंघ में इटली की सदस्यता नष्ट करने की भी सामर्थ्य उत्पन्न न हो सकी। आज स्पेन में अंतःकलह होते हुए भी जर्मनी और इटली स्पष्ट रूप से स्पेन सरकार के विरुद्ध सहायता पहुँचा रहा है फिर भी

उन्हें तटस्थ कमेटी में स्थान प्राप्त है । इसी से पता चलता है कि राजनीति क्या है । आज प्रत्येक देश जो इतनी अधिक उलझनों में पड़ता जा रहा है इसका क्या कारण है । क्या सभी देशों को केवल एक साम्राज्य की ही इच्छा है या इस साम्राज्य की वृद्धि में उनका अंतस्थ कोई दूसरा हेतु है । जिन्होंने आज की परिस्थिति का सूक्ष्मता से अध्ययन किया होगा उन्हें यह समझने में कुछ भी देरी नहीं लगेगी कि इस समय तो कम से कम कोई भी राष्ट्र साम्राज्य लिप्सा की अपेक्षा अपने देश के आर्थिक प्रश्न को हल करने में अधिक चिंतातुर है। साम्राज्य वृद्धि केवल वैभव के लिए न होकर अपने गरजों को दूर करने का वह एक साधन होकर बैठा है । अमुक देश कमजोर है, उसके ऊपर परचक्र का भय है, वह अपने पैरों खड़े होने की सामर्थ्य नहीं रखता है यह सब भूल–भुलैया है । सच पूछा जाये तो आज का झगड़ा पूँजीवाद और लोकसत्ता का है । अनेक देशों की सरकारों ने परिस्थिति ही ऐसी निर्माण कर रखी है जिससे उनका दूसरे अशक्त देशों पर हमला किये बिना और उनको अपने काबू में लाये बिना काम ही नहीं चलता है । यह स्थिति केवल प्रत्येक सरकार की ही है यह बात नहीं किन्तु जितने भी पूँजीपति हैं वे भी उसी मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं।

उत्पादन शक्ति मजदूरों के हाथ में होते हुए भी सम्पत्ति भोक्ता मात्र ये पूँजीपति हैं। कभी–कभी ये अपने इस दोष को छिपाने के लिए दान की बड़ी–बड़ी रकमें भी निकालते हैं, फिर भी उनसे बहुजन समाज का जितना अधिक फायदा होना चाहिए वह कभी भी सम्भव नही है। परन्तु इस पद्धति से भी गरीबों के कैवारी आपको कितने पूँजीपति मिलेंगे इसका यदि सरासर विचार किया जावे तो सौ में से एक इस श्रेणी में आ सकेगा या नहीं इसमें संदेह है ।

एक को रहने के लिए सुन्दर मकान, आराम और सुख भोगने के लिए दूसरी सामग्रियाँ, पहिनने के लिए रेशमी कपड़े और पर्यटन के लिए मोटर आदि साधन उपस्थित हैं तो दूसरे को अपना शरीर ढाँकने के लिए वस्त्र का एक टुकड़ा और पेट भर अन्न भी नहीं मिलता है । परन्तु इन सब साधनों के उत्पादक कौन हैं ? यदि यह प्रश्न किया जावे तो यह कोई भी नहीं कह सकता कि इनके कर्ता वे हैं जिन्हें अपना जीवन रोते हुए बिता देना पड़ता है ।

पूर्व ऋषियों ने आमदनी का विभाग करते हुए उसका एक चतुर्थांश धर्म में खर्च करने के लिए कहा है । वह भी दिखाऊ न होकर जिससे अनन्त अनाथ प्राणियों का उपकार हो ऐसे कामों में खर्च होना चाहिए । किसी भी रूप में आज जो कुछ

भी पूँजीपति धर्म में खर्च कर रहे हैं वह अनेक मार्गों के संग्रह की हुई संपत्ति का शतांश भी नहीं होगा यह उनकी आमदनी और खर्च के अनुपात से सहज ही समझ में आ सकता है ।

बहुत से ऐसे उदाहरण मिलेंगे कि धर्मादाय के नाम से ये पूँजीपति गरीबों से एक एक पैसा इकट्ठा करते हैं । परन्तु वह उनके वैभव बढ़ाने में सहायक होता है। या उस संग्रह की हुई द्रव्य का वे अपने नाम से विनियोग करते हैं। बहुत से भाई भी इस द्रव्य के द्वारा ही तीर्थाटन आदि करके पुण्य संचय करना चाहते हैं । यह दोष सबके लिए लागू है यह बात नहीं परन्तु अधिकांश आपको ऐसे उदाहरण मिलेंगे। इधर पैसे की कीमत बढ़ जाने के कारण गरीबों को अपनी गरीबी का अधिक अनुभव होने लगा है। उन्हें अपनी प्रतिदिन की साधारण से साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति करना कठिन होता जाता है। जो माल गरीब तैयार करते थे वह सब यंत्रों से तैयार होकर इन पूँजीपतियों के द्वारा विदेशों से लाकर बाजार भरे जाने लगे हैं । इसलिए आज गरीबों को पूँजीपतियों से टक्कर लेने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है । एक दिन वह था कि मजदूर स्वयं सब तरह की आवश्यकताओं के अनुसार कच्चे और पक्के माल के उत्पादक थे और पूँजीपति उसका विनियोग करने वाले थे अतएव मजदूर और श्रीमंतों में एक दूसरे की गरज के अनुसार कार्यभाग होता था । प्रत्येक को दूसरे के अस्तित्व की आवश्यकता प्रतीत होती थी । परन्तु आज की परिस्थिति में श्रीमंत मजदूरों का वही काम यंत्रों से करने लगे । थोड़े मजदूरों से अधिक काम होने लगा। अतएव स्वभावतः विरुद्ध दो शक्तियाँ निर्माण होने लगीं। एक दूसरे को एक दूसरे से टक्कर देने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी । श्रीमंतों का अर्थ शोषण का काम बराबर चालू है । इधर गरीब उसके लिए दिन दिन मुहताज होते जाते हैं । आज श्रीमंत मजदूरों का महत्व भूल गये । उन्हें मजदूरों के स्थान में पैसे का महत्व अधिक दिखने लगा । वे मनुष्य की अपेक्षा पैसे की अधिक कीमत करने लगे । प्रत्येक सरकार भी इन श्रीमंत के हाथ की कठपुतली होने के कारण उसे भी उन्हीं की चिंता है। इस तरह यदि विचार किया जावे तो यह बिल्कुल स्पष्ट है कि आज का प्रश्न दूसरा कुछ न होकर पेट का प्रश्न है ।

कुछ भाई समाज सुधार का प्रयत्न करते हैं परन्तु उन्हें इस बात का थोड़ा भी पता नहीं है कि जब तक उनका कार्यक्रम बहुजन समाज के आर्थिक प्रश्न को हल करने वाला नहीं होगा तब तक हमें किसी भी कार्यक्रम में सफलता नहीं मिल सकती है। माना कि आपने एक श्रीमंत को विवाह में फिजूल खर्ची से बचा दिया । अब आप देखेंगे कि उस श्रीमंत की खर्च की गरज कम हो गई । इससे उसके पास

जो अधिक पूँजी शिल्लक रहेगी उससे उसे अर्थपोषण के लिए सहायता ही मिलेगी इससे बहुजन समाज का कौन सा फायदा हो सकेगा । इसके उत्तर में एक मुद्दा उपस्थित किया जा सकता है कि श्रीमंतो ने इन सामाजिक कामों में फिजूल खर्ची बन्द कर दी तो गरीबों को भी किसी हद तक उन सामाजिक कामों में कम खर्च करना पड़ेगा गरीबों का यही सबसे बड़ा फायदा है । परन्तु इस समय प्रश्न तो. पेट का है, जिन्हें भरपूर पेट के लिए ही नहीं मिलता है, उनको तुम्हारे इन सामाजिक सुधारों से क्या फायदा । इन सुधारों से थोड़ा बहुत यदि फायदा होगा तो केवल मध्यम वर्ग का ही होगा । परन्तु आज की परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर हमें सबसे पहिले उन गरीबों का प्रश्न हल करना है जो आज दर दर के भिखारी बनते जा रहे हैं । दूसरे वर्तमान कार्यक्रम से श्रीमंतों का वर्चस्व कम नहीं होता है । आज जरूरत तो इस बात की है कि सामाजिक रचना ही इस प्रकार की हो जिसमें दूसरे प्रश्नों को गौण करते हुए आर्थिक प्रश्न के हल करने की प्रधानता रक्खी जावे । हम यह जानते हैं कि बहुत से भाई हमारे इस प्रश्न के उपस्थित करने पर चिढ़ेंगे । वे कुछ का कुछ अर्थ भी करने लगेंगे परन्तु उन्हें यह ध्यान में रखना चाहिए कि इस पेट के प्रश्न को आज हम यदि सुलझाने का प्रयत्न नहीं करेंगे तो वह दिन बहुत दूर नहीं है जब कि हमें उसके हल करने के लिए मजबूर होना पड़ेगा । हमारे शिक्षालयों में इस प्रकार की शिक्षा नहीं दी जाती है कि जो आर्थिक प्रश्न के हल करने में समर्थ हो । इसीलिए शिक्षालयों से शिक्षित निकल कर भी वे सुख पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करने के लिए और अपनी शिक्षा का स्वतः के लिए तथा बहुजन समाज के लिए उपयोग करने के लिए असफल सिद्ध होते हैं । अशिक्षित गरीबों का तो पूछना ही क्या है। इस तरह ऊपर के विवेचन से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि आज का प्रश्न और सब प्रश्नों की अपेक्षा पेट का है । आज संपूर्ण समाज को एकचित्त होकर इसी के हल करने के लिए ही प्रयत्न करना चाहिये ।

वर्ण व्यवस्था का आन्तर रहस्य

अन्य देशों से भारतवर्ष की स्थिति सर्वथा भिन्न है । वैदिक धर्म की कृपा से यहाँ का मानव समाज मुख्यतः चार वर्णों और अनेक जातियों व उपजातियों में विभक्त हो गया है जब कि अन्य देशों में ऐसा कोई विभाग नहीं दिखायी देता है । हजारों वर्षों से भारतवर्ष की कमजोरी और परतन्त्रता का कारण यह भी है । इस जातीय चढ़ा–ओढ़ ने देश के नैतिक बल का तो नाश किया ही है साथ ही वह भौगोलिक दृष्टि से एक होकर भी भीतर से अनेक भागों में बँट गया है ।

इधर कांग्रेस की बागडोर सम्भालने के बाद महात्मा गाँधी ने जीवन में श्रम, शम और सम की प्रतिष्ठा करने के लिए कुछ समान भूमिका तैयार करने का प्रयत्न किया था और अंशतः वे उसमें सफल भी हुए थे, किन्तु कांग्रेस की वर्तमान नीति इतनी कमजोर और लचर है जिससे तत्काल इस समस्या का हल होना कठिन दिखायी देता है । कांग्रेस हरिजनों का जीवन स्तर तो सुधारना चाहती है पर वह शेष तीन वर्णों में आये हुए अन्तर को दूर करने के लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं कर रही है । इससे देश के सामाजिक जीवन में थोड़ा बहुत सुधार होकर भी उसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हो सकेगा ।

भारतीय साहित्य का आलोडन करने से यह ज्ञात होता है कि देश की वर्तमान व्यवस्था का मुख्य आधार मनुस्मृति है । उसमें चार वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा से बतला कर उनके अलग–अलग कर्त्तव्य निश्चित किये गये हैं । इसके अनुसार अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह ये ब्राह्मणों के कर्त्तव्य हैं, प्रजा की रक्षा, दान, पूजा, अध्ययन और इन्द्रियों के विषयों में अनासक्ति ये क्षत्रियों के कर्त्तव्य हैं, पशुओं की रक्षा, दान, पूजा अध्ययन, वाणिज्य, धन की वृद्धि करना और कृषि ये वैश्यों के कर्त्तव्य हैं तथा असूया रहित होकर ब्राह्मण आदि तीन वर्णों की सेवा करना यह शूद्रों का कर्त्तव्य है।

मनुस्मृति में दूसरे वर्णों की अपेक्षा ब्राह्मण को अनिर्बन्ध अधिकार दिये गये हैं। चरित्र बल में हीन होने पर भी वे सबसे श्रेष्ठ मान लिये गये हैं ।

साधारणतः जैन पुराणों में भी चार वर्णों की चर्चा देखने को मिलती है। आदिपुराण में बतलाया है कि युग के आदि में भगवान ऋषभदेव ने गुण कर्म के अनुसार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों की स्थापना की थीं । इस अवस्था के अनुसार जो शस्त्र धारण कर आजीविका करते थे वे क्षत्रिय इस नाम से अभिहित किये गये

थे, जो खेती, व्यापार और पशुओं का पालन कर आजीविका करते थे वे वैश्य इस नाम से अभिहित किये गये थे और जो क्षत्रियों व वैश्यों की आजीविका करते थे वे शूद्र इस नाम से अभिहित किये गये थे ।

आदिपुराण के अनुसार ब्राह्मण वर्ण की स्थापना ऋषभदेव ने की थी । किन्तु कुछ साल बाद उनके प्रथम पुत्र भरत ने श्रावकों को ब्राह्मण संज्ञा दी थी और उन्हें ब्राह्मण वर्ण का कहा था ।

इसी प्रकार बौद्ध परम्परा में चार वर्णों का उल्लेख देखने को मिलता है । धम्म पद में एक गाथा आई है । उसका आशय यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये नाम अलग अलग कर्म के अनुसार रखे गये थे । यह गाथा जैन आगम उत्तराध्ययन सूत्र में पायी जाती है । यद्यपि वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में जैन और बौद्ध परम्परा का आशय एक है पर वैदिक परम्परा से उसमें मौलिक अन्तर है ।

वैदिक परम्परा के अनुसार प्रत्येक वर्ण की प्राप्ति जन्म से होती है । जो जिस वर्ण में उत्पन्न होता है उसे जीवन भर उस वर्ण के कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता है । उसका यही स्वधर्म है । चार पुरुषार्थों में उल्लिखित धर्म पुरुषार्थ भी यही है। मोक्ष पुरुषार्थ इससे भिन्न है । इस व्यवस्था के अनुसार दान का स्वीकार और अध्यापन कार्य ब्राह्मण ही कर सकता है । अन्य तीन वर्ण के लोग न तो दान ले सकते हैं और न अध्यापन कार्य कर सकते हैं । शूद्र तो शुश्रूषा करने के सिवा और किसी बात का अधिकारी माना ही नहीं गया है । अध्ययन, दान और पूजा ये कार्य ऐसे हैं जो ब्राह्मणों के सिवा क्षत्रिय और वैश्य भी कर सकते हैं पर शूद्र को इन कार्यों के करने का भी अधिकार नहीं दिया गया है । वे सदा मूर्ख और पंगु बने रहें इसकी पूरी व्यवस्था की गई है ।

यों तो अब वैदिक परम्परा के अनुसार की गई व्यवस्था का अन्त हो रहा है। शूद्रों को वे सब अधिकार मिल रहे हैं जो उनसे छीन लिये गये थे । वे अब मन्दिर जा सकते हैं, अध्ययन अध्यापन का कार्य कर सकते हैं, आदर सत्कार में हिस्सा बटा सकते हैं, सबके साथ बराबरी से बैठ कर भोजन, पान कर सकते हैं, सदाचार का स्वयं पालन कर सकते हैं और दूसरों से इसका पालन करा सकते हैं । उनके प्रति ब्राह्मण धर्म ने जो घृणा पैदा की थी वह अब दूर होने लगी है । अब अधिकतर लोग यह समझने लगे है कि जैसे मनुष्य हैं वैसे वे भी मनुष्य हैं । हममें उनमें कोई अन्तर नहीं है । फिर भी ऐसे कितने लोग मनुष्य शेष हैं जो इन परिवर्तनों का विरोध कर रहे हैं और अपनी पुराणी प्रभुता को जीवित रखना चाहते हैं । किन्तु अब स्थिति इतनी

अधिक बदल गई है जिससे देश का पीछे लौटना असंभव है । वे राजा, जो इस व्यवस्था को दृढ मूल करने में सहायक थे अब धूलि धूसरित हो कोने में पड़े सिसक रहे हैं । सामन्तों और परिग्रहवादियों की भी यही दशा होने वाली है और आशा है कि निकट भविष्य में ईश्वर को भी अपराधियों के कठघरे में ला कर खड़ा कर दिया जायगा । अब उसके नाम पर निकलने वाली विज्ञप्तियों को सुनने वाला कोई नहीं रहेगा। सब उसे उपेक्षा और तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगेंगे । अब तो ऐसे समाज का उदय होकर ही रहेगा जिसमें सबको समान रूप से विकास करने का अवसर मिलेगा।

इतने विवेचन से यद्यपि स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक परम्परा के अनुसार जो वर्णव्यवस्था चालू है वह सर्वथा अनुपयुक्त है । उससे मानव समाज का न तो कभी कल्याण हुआ है और न हो सकता है । फिर भी विश्व में किसी प्रकार की सामाजिक व्यवस्था ही न हो यह हमारा मत नहीं है । पश्चिमीय देशों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन शब्दों का व्यवहार न भी किया जाता हो तो भी वहाँ कोई न कोई व्यवस्था तो है ही । हम ऐसी व्यवस्था के पक्षपाती हैं जिससे मानव समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपनी वैयक्तिक स्वतंत्रता का अनुभव करने में पूर्ण समर्थ हो । इसमें सन्देह नहीं कि पहिले हम आदिपुराण के अनुसार जिस व्यवस्था का निर्देश कर आये हैं उसमें बहुत कुछ अंश में यह गुण मौजूद हैं ।

आदि पुराण में वर्ण व्यवस्था का निर्देश करते हुए प्रारम्भ में जो छह कर्म बतला आये हैं, वे हैं—असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प । इन छहों में पूजा अध्ययन, अध्यापन और प्रतिग्रह इनका अन्तर्भाव नहीं होता । असिकर्म आदि आजीविका के साधन हैं और पूजा आदि धर्म के साधन हैं । वर्ण व्यवस्था में मुख्यता आजीविका की है धर्म की नहीं । वर्ण का अर्थ है बाहिरी रूप रंग । जिससे बाहिरी रंग ढंग की पहिचान होती है वह वर्ण है और जिससे आत्मा की आन्तर परिणति जानी जाती है वह धर्म है । वर्ण और धर्म में यही अन्तर है । आदिपुराण के अनुसार की गई वर्ण व्यवस्था को समझने के लिए इस अन्तर को जानना जरूरी है । उसमें किसी वैयक्तिक अधिकार पर कुठाराघात न हो इस बात पर पूरा ध्यान रखा गया है । इसके अनुसार जो जब जिस कर्म को करता है उस समय वह उस वर्ण का माना जाता है । आजीविका के साधन बदलने जाने पर वर्ण भी बदल जाता है । वर्ण कोई भी हो पर दान का लेना देना, अध्ययन अध्यापन करना और पूजा करना ये कार्य किसी के लिए वर्जित नहीं हैं । केवल इतनी विशेषता है कि ब्राह्मण इस संज्ञा की प्राप्ति में चारित्र भी निमित्त है । इसी से उसका कोई कर्म निश्चित नहीं किया गया

है । वह अपने चरित्र का अविरोधी कोई भी कर्म कर सकता है । क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र जो भी श्रावक व्रत को स्वीकार करता है वह ब्राह्मण वर्ण का कहलाने लगता है ।

माना कि उत्तरकालवर्ती कुछ आचार ग्रन्थों में अनेक दूषित परम्पराओं ने प्रवेश पा लिया है और अधिकतर विद्वान उनके अनुसार वर्तन करना ही धर्म समझने लगे हैं । आज जैन संघ में जो विविध मत दिखाई देते हैं वे इसी के परिणाम हैं । पर यदि वे किंचित् विवेक से काम लें तो उन्हें अपने मत के बदलने में जरा भी देर न लगे । उन्हें केवल इतना ही विवेक करना है कि ब्राह्मण कहे जाने वाले मनुष्य से शूद्र कहे जाने वाले मनुष्य में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है। जिस प्रकार एक मनुष्य का पगड़ी बाँधना और दूसरे मनुष्य का टोपी पहिनना यह रुचि का प्रश्न है, इससे उन दोनों मनुष्यों की आन्तर योग्यता में कोई अन्तर नहीं आता । उसी प्रकार बाह्य परिस्थितिवश कर्मभेद से भी मनुष्यों की आन्तर योग्यता में कोई अन्तर नहीं आता। दोनों ही मोक्ष के अधिकारी हैं और दोनों ही स्वर्ग नरक आदि के भी अधिकारी हैं। अतः यही निश्चित होता है कि मनुष्य वर्ण अर्थात् व्यवसाय कुछ भी क्यों न हो इससे वह अन्य मनुष्यों से किसी भी बात में न तो हीन ही समझा जा सकता है और न ऊँच ही ।

जैन परम्परा के अनुसार वर्ण व्यवस्था का यह आन्तर रहस्य है । हम समझते हैं कि आज का मानव समुदाय इस प्रकार की व्यवस्था करने में पूरी तरह हाथ बँटायेगा।

जैन धर्म और वर्णव्यवस्था

हमारे देश में चार वर्णों में अन्तिम वर्ण के मनुष्य शूद्र माने जाते हैं । ये मानव तनधारी सबसे अभागे प्राणी हैं । हजारों वर्षों से ब्राह्मणों ने क्षत्रियों से साजिश करके इनसे सब अधिकार छीन लिये हैं । इन्हें जनेऊ पहिनने, व्रत–संस्कार करने आदि का अधिकार नहीं दिया गया है । इतना ही नहीं, ये न तो दूसरे वर्ण के मनुष्यों के साथ बराबरी से बैठ–उठ सकते हैं और न सार्वजनिक स्थान जैसे प्रार्थनागृह, मन्दिर और धर्मशाला आदि में आ जा सकते हैं । इनकी शिक्षा और स्वास्थ्य की ओर भी समुचित ध्यान नहीं दिया गया है । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा करते रहना यही इनका स्वर्ग है और यही इनकी मुक्ति !!

भारतीय संविधान और रूढ़िवादी जैन

भारतवर्ष को स्वराज्य मिलने के बाद भारत सरकार और जनप्रतिनिधियों का इस ओर ध्यान गया है । भारतीय संविधान सभा ने जिस संविधान को स्वीकार किया है, उसमें दो सिद्धान्त निश्चित रूप से मान लिये गये हैं ।

१. हम मनुष्यों में किसी भी प्रकार की अस्पृश्यता नहीं मानते ।

२. हिन्दुओं के प्रत्येक सार्वजनिक स्थान और सम्पत्ति का चाहे मन्दिर, धर्मशाला या ट्रस्ट ही क्यों न हो, सभी हिन्दू समान रूप से उपयोग कर सकते हैं।

यह तो मानी हुई बात है कि हिन्दू शब्द किसी धर्म विशेष का वाची नहीं है। सुदूरपूर्व काल से जितने धर्मों के मनुष्य यहाँ निवास करते थे और जिन धर्मों के प्रवर्तक यहीं जन्मे थे, वे सब हिन्दू शब्द की व्याख्या में आते हैं । इस व्याख्या के अनुसार न केवल वैदिक धर्म के अनुयायी हिन्दू ठहरते हैं अपितु जैन, बौद्ध और सिख – ये भी हिन्दू ही माने जाते हैं । संविधान की २५ वीं धारा के नियम नं० २ में इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख कर दिया गया है कि–

Hindu includes Jain, Bauddha and Sikhas.

जहाँ तक हम देखते हैं सिखों और बौद्धों को इसमें कोई आपत्ति नहीं है । वे इस तथ्य को न केवल स्वीकार करते हैं, अपितु इसका प्रचार भी करते हैं; क्योंकि इसमें वे अपना सांस्कृतिक लाभ देखते हैं । राहुल जी ने अनेक बार लिखा है कि हमें किसी भी हालत में अपने को हिन्दू कहलाना नहीं छोड़ना है।

किन्तु कुछ रूढ़िवादी जैन इस तथ्य को स्वीकार करने से हिचकिचाते हैं । उनके सामने मुख्य प्रश्न जैन मन्दिरों का है । उन्हें भय है कि हिन्दू शब्द की उक्त व्याख्या मान लेने पर हमें जैन मन्दिर कथित अस्पृश्यों को खोलने पड़ेंगे; जबकि वे इसके लिए तैयार नहीं है ।

इस समय जैन समाज में विवाद दो स्तरों पर चल रहा है । प्रथम तो यह कि "जैन हिन्दू हैं या नहीं, और दूसरा यह कि अस्पृश्य जैन मन्दिरों में जा सकते हैं या नहीं ।" प्रथम प्रश्न ऐतिहासिक है और दूसरा सांस्कृतिक ।

कुछ जैनों का ख्याल है कि संस्कार से 'जैन हिन्दू नहीं है' इस बात के स्वीकार करा लेने पर 'कथित अस्पृश्य जैन मन्दिरों में जा सकतें हैं या नहीं' ? इस प्रश्न को अलग से निर्णय कराने की आवश्यकता नहीं रहती । वे सोचते हैं कि इस तरह जैन मन्दिर उन कानूनों से अपने आप बरी हो जाते हैं; जो कथित अस्पृश्यों को मन्दिर प्रवेश का अधिकार देते हैं ।

बात साफ है । जैन हिन्दू नहीं है यह कहना तो बहाना मात्र है । वास्तव में वे केवल इनता ही चाहते हैं कि जैन मन्दिरों में अस्पृश्यता पूर्ववत् बनी रहे।

वे ऐसा क्यों चाहते हैं, इसका कारण बहुत स्पष्ट है । किन्तु हम उसमें जाना नहीं चाहते । हमारे सामने मुख्य प्रश्न संस्कृति का है । आगम इस विषय में क्या कहता है, हमें तो यहाँ इसी बात का निर्णय करना है ।

भारत की दो प्रमुख संस्कृतियाँ

उसमें भी सर्वप्रथम हमें यह देखना है कि वर्ण क्या वस्तु है और उसकी स्थापना यहाँ किन परिस्थितियों में हुई ? यह तो सर्वविदित है कि भारतवर्ष में श्रमण और वैदिक ये दो संस्कृतियाँ मुख्य हैं । इन दोनों के आचार विचार और क्रिया–कलाप में महान् अन्तर है । वैदिक–संस्कृति मुख्य रूप से ईश्वरवादियों की परम्परा है और श्रमण–संस्कृति स्वावलम्बियों की परम्परा है । इन दोनों में पूर्व पश्चिम का अन्तर है । पतंजलि ऋषि ने हजारों वर्ष पहले अपने भाष्य में इसे स्वीकार किया है । वे इन दोनों के विरोध को अहि–नकुल के समकक्ष का मानते है। । 'हस्तिना ताड्य मानोऽपि न गच्छेत् जैन मन्दिरम्' इत्यादि वचन इसी विरोध के सूचक हैं । इसलिए जब कभी हम सांस्कृतिक दृष्टि से विचार करते हैं, तब हमें इनके अन्तर को सामने रखना आवश्यक हो जाता है, अन्यथा पदार्थ का निर्णय करने में न केवल कठिनाई आती है, अपितु दिशाभ्रम होने का भय रहता है ।

वर्ण शब्द की व्याख्या

वर्ण क्या है यह प्रश्न बहुत कठिन नहीं है । इसका अर्थ आकार या रूप रंग होता है । प्राचीन ऋषियों ने इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया था । उन्होंने मनुष्यों के रूप–रंग की जानकारी के लिए उनकी आजीविका और चर्या को मुख्य साधन माना था । मनुष्य जन्म से अपनी आजीविका लेकर नहीं आता । किन्तु वह जिन परिस्थितियों में बढ़ता है और उसे अपने विकास के जैसे साधन उपलब्ध होते हैं, उनके आधार से उसकी आजीविका निश्चित होती है । डॉ० अम्बेडकर आज की कथित 'महार' जाति में जन्मे हैं । 'महार' दक्षिण में एक अछूत जाति है । इनके माता पिता इसी जाति के एक अंग थे । किन्तु आज वे कानून के महान् पण्डित हैं । भारत को उन पर नाज है । वे भारतीय संविधान के मुख्य कर्ता–धर्ता हैं । उनकी बुद्धि और प्रतिभा का विश्व ने लोहा माना है । यों तो वैदिकों की पुरानी व्यवस्था के अनुसार वे अस्पृश्य ठहरते है पर आज वे किसी भी उच्चकोटि के ब्राह्मण से हीन कोटि के नहीं माने जा सकते । इस तथ्य को प्राचीन ऋषियों ने भी अनुभव किया था । तभी तो उन्होंने कहा था –

क्रियाविशेषाद् व्यवहारमात्राद्दयाभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात् ।

शिष्टाश्च वर्णाश्चतुरोवदन्ति न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात् ।।

–वरांग चरित सर्ग २५ श्लोक ११

प्राचीन शिष्ट पुरुषों ने चार वर्णों का जिन कारणों से प्रतिपादन किया था, उन्हीं का इस श्लोक में सुस्पष्ट रूप से वर्गीकरण किया गया है । वे कारण छः हैं – १. क्रियाविशेष, २. व्यवहार मात्र, ३. दया, ४. प्राणियों की रक्षा, ५. कृषि और ६. शिल्प । श्लोक के अन्तिम चरण में बतलाया गया है कि चार वर्णों की सत्ता इन्हीं कारणों से मानी जा सकती है, अन्य किसी भी प्रकार से चार वर्ण नहीं हो सकते ।

इन में प्रारम्भ के दो सामान्य कारण हैं और अन्त के चार क्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों के सूचक हैं । सर्वप्रथम आचार्य क्रिया विशेष को चार वर्णों का हेतु कहना चाहते हैं, परन्तु उन्हें भय है कि कहीं कोई इस आधार से मनुष्यों के वास्तविक भेद न मान बैठे, इसलिए वे कहते हैं कि मनुष्यों को ऐसा कहना कि 'यह अमुक वर्ण का है' व्यवहार मात्र है । लोक में ब्राह्मण आदि शब्द के द्वारा कथन करने की रूढ़ि है – कोई ब्राह्मण कहलाता है और कोई क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र । इसके सिवा इस कथन की अन्य कोई मौलिक विशेषता नहीं है । यदि थोड़ी देर को

यह मान भी लें कि व्यवहार में इन नामों के प्रचलित होने के कोई अन्य कारण अवश्य हैं, तो वे दया, अभिरक्षा, कृषि और शिल्प इनके सिवा और हो ही क्या सकते हैं। यही कारण है कि प्राचीन काल में इन क्रियाओं के आधार से ब्राह्मण आदि चार वर्णों का नामकरण किया गया था।

१. ब्राह्मण वर्ण

पहला कारण दया है। यह अहिंसा का प्रतीक है। अहिंसा आदि पाँच व्रतों को स्वीकार कर उनका पालन करना ही ब्राह्मण वर्ण की मुख्य पहिचान है। 'ब्राह्मण कौन' इसका निर्देश प्राचीन साहित्य में विस्तृत आधारों पर किया है ? इसकी व्याख्या करते हुए उत्तराध्ययन में कहा है –

तसपाणे वियाणित्ता, संगहेण य थावरे ।

जो न हिंसइ तिविहेणं, तं वयं बूम माहणं ।।

जो त्रास–स्थावर सभी प्राणियों को भली भाँति जानकर उनकी मन, वचन और काय से कभी हिंसा नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

कोहा वा जइ वा हासा लोहा वा जइ वा भया ।

मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं ।।

जो क्रोध से, हास्य से, लोभ से अथवा भय से असत्य नहीं बोलता उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

सचित्त या अचित्त कोई भी पदार्थ, भले ही फिर वह थोड़ा हो या ज्यादा, जो बिना दिये नहीं लेता उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

दिव्वमाणुसतेरिच्छं, जो न सेवइ मेहुणं ।

मणसा कायवक्केणं, तं वयं बूम माहणं ।।

जो देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी सभी प्रकार से मैथुन का मन, वचन और शरीर से कभी सेवन नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

जहा पोम्मं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ।।

एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ।।

जिस प्रकार कमल जल में उत्पन्न होकर भी जल से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार जो संसार में रह कर भी काम भोगों से सर्वथा अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

आदि पुराण में भी ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति का सुस्पष्ट निर्देश किया है । वहाँ बतलाया है कि भरत चक्रवर्ती ने तीन वर्ण के व्रती श्रावकों को ब्राह्मण वर्ण का कहा था और तभी से ब्राह्मण वर्ण लोक में प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ ।

चार वर्णों के कार्यों का निर्देश करते हुए वहाँ यह श्लोक आया है –

ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात् ।
वणिजोऽर्थार्जनान्न्यायाच्छूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ।।

–आ०पु०, पर्व ३८ श्लोक ४६

जिन्होंने व्रतों को स्वीकार किया है वे ब्राह्मण हैं, जो आजीविका के लिए शस्त्र स्वीकार करते हैं वे क्षत्रिय हैं, जो न्यायमार्ग से अर्थार्जन करते हैं वे वैश्य हैं और जो जघन्य वृत्ति स्वीकार करते हैं वे शूद्र हैं ।

इससे भी यही ज्ञात होता है कि ब्राह्मण वर्ण का मुख्य आधार आजीविका नहीं है, किन्तु व्रतों का स्वीकार करना है । तभी तो पद्मचरित में कहा है –

व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।।११,२०।।

इस श्लोक में रविषेण आचार्य ने कितनी बड़ी बात कही है । इससे जैन धर्म की आत्मा निखर उठती है । वे इसमें स्पष्ट रूप से उस चाण्डाल (चाण्डाल कर्म से आजीविका करने वाले) को भी ब्राह्मण रूप से स्वीकार करते हैं जो जीवन में व्रतों को स्वीकार करता है ।

जैन धर्म के अनुसार वर्ण व्यवस्था का रहस्य क्या है यह इसमें उद्घाटित करके बतलाया गया है । कोई भी मनुष्य आजीविका क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र किसी वर्ण की क्यों न करता हो यदि वह व्रतों का पालन करने लगता है, तो वह धर्म से ब्राह्मण हो जाता है यह इसका तात्पर्य है ।

मनुस्मृति में ब्राह्मण के अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह – ये चार कार्य मुख्य कार्य बतलाये गये हैं । अन्यत्र आदिपुराण में भी इन कार्यों का निर्देश किया गया है । किन्तु इनका पूर्वोल्लेखों से समर्थन नहीं होता । वस्तुतः ब्राह्मण वर्ण की

स्थापना आजीविका की प्रधानता से न की जाकर जीवन में व्रतों का महत्व प्रस्थापित करने के लिए ही की गई थी । आगे चलकर ब्राह्मण वर्ण स्वयं एक जाति बन गई। यह वैदिक धर्म की ही कृपा समझिये ।

२. क्षत्रिय वर्ण

दूसरा कारण अभिरक्षा है । किसी भी देश में लोगों की बड़ी आवश्यकता होती है जो परचक्र से देश की रक्षा करते हुए समाज में सुव्यवस्था बनाये रखते हैं । अभिरक्षा शब्द द्वारा कार्य की सूचना की गई है । यह कार्य क्षत्रिय वर्ण की मुख्य पहिचान है। इसके अनुसार शासन, सेना और पुलिस में लगे हुए मनुष्य क्षत्रिय वर्ण के माने जा सकते हैं ।

साधारणतः यह समझा जाता है कि शस्त्र धारण करना और मार–काट करना क्षत्रियों का काम है किन्तु जो लोग ऐसा कहते हैं, वे इस बात को भुला देते हैं कि शस्त्र–विद्या में निपुणता प्राप्त करना तथा देश और समाज पर आपत्ति आने पर उसके वारण का उद्यम करना यह किसी एक वर्ण का काम नहीं है । वर्ण में मुख्यता आजीविका की रहती है । यदि हम यह कहें कि वर्ण आजीविका का पर्यायवाची है, तो कोई अत्युक्ति न होगी । जिस समय आदिनाथ जन्में थे, उस समय कोई वर्ण न था; किन्तु जब उन्होंने प्रजा की रक्षा द्वारा अपनी आजीविका करना निश्चित किया और आजीविका के आधार से मनुष्यों को तीन भागों में विभक्त कर दिया, तब वे स्वयं अपने को क्षत्रिय वर्ण का कहने लगे । अभिप्रायः यह है कि यदि कोई पुलिस, सेना और शासन के प्रबन्ध में लग कर इस द्वारा अपनी आजीविका करता है, तो वह क्षत्रिय वर्ण का कहा जाता है, अन्यथा नहीं। क्षत्रियों का वर्ण अर्थात् कार्य बतलाते हुए महाकवि तुलसीदास रघुवंश में राजा दिलीप के मुख से क्या कहलाते हैं, यह उन्हीं के शब्दों में सुनिये–

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढ़ः ।

अर्थात क्षत्रिय शब्द पृथिवी पर, आपत्ति से रक्षा करना, इस अर्थ में रूढ़ है ।

इससे स्पष्ट है कि बहुत प्राचीन काल की तो बात जाने दीजिए, महाकवि कालिदास के काल में क्षत्रिय नाम की कोई जाति विशेष नहीं मानी जाती थी । किन्तु जो अभिरक्षा द्वारा अपनी आजीविका करते थे, वे ही क्षत्रिय कहे जाते थे।

क्षत्रिय वर्ण के कार्य में अभिरक्षा शब्द अपना विशेष महत्त्व रखता है। शासन की नीति क्या हो यह इस शब्द द्वारा स्पष्ट किया गया है । आक्रमण और सुरक्षा – ये शासन–व्यवस्था के दो मुख्य अंग माने जाते हैं । किन्तु आक्रमण करना यह क्षत्रियों

का काम न होकर मात्र परचक्र से देश की रक्षा करना और देश के भीतर सुव्यवस्था बनाये रखना उनका काम है यह 'अभिरक्षा' शब्द से व्यक्त होता है ।

आजकल की राजनीति में अहिंसा के प्रवेश का श्रेय महात्मा गाँधी को दिया जाता है । यह हम मानते हैं कि महात्मा गाँधी ने आज की दूषित राजनीति में एक बहुत बड़ी क्राँति की है । इससे न केवल भारतवर्ष का मस्तक ऊंचा हुआ है, अपितु विश्व को बड़ी राहत मिली है । किन्तु यह कोई नई चीज नहीं है । हजारों वर्ष पहले जैन–शासकों की यही नीति रही है । भारत ने दूसरे देशों पर कभी आक्रमण नहीं किया, मात्र आक्रमण से इस देश की रक्षा की, यह इसी नीति का सुन्दर फल है । आज विश्व इस चीज को समझ रहा है और वह इसके लिए भारत की प्रशंसा भी करने लगा है ।

३. वैश्य वर्ण

तीसरा कारण कृषि है । प्रत्येक देश की अभिवृद्धि का मुख्य कारण कृषि, वाणिज्य, उपयोगी पशुओं का पालन, और उनका क्रय–विक्रय करना माना गया है। कार्य विभाजन के साथ यह कार्य करना जिन्होंने स्वीकार किया था, उन्हें वैश्य संज्ञा दी गई थी । उक्त कार्य वैश्य वर्ण की मुख्य पहिचान है ।

इस समय भारतवर्ष में वैश्य वर्ण एक स्वतंत्र जाति मान ली गई है और उसका मुख्य काम दलाली करना रह गया है । कृषि और उपयोगी पशुओं का पालन करना यह काम उसने कभी का छोड़ दिया है । इन दोनों कार्यों को करने वाले अब प्रायः शूद्र माने जाते हैं । इसी नीति का प्ररिणाम है कि देश में आर्थिक विषमता अपना मुँह बाये खड़ी है । कृषक वर्ग देश की रीढ़ है । "उसके हाथ में ही व्यापार रहना चाहिए", यह हमारे देश की पुरानी व्यवस्था थी । आजकल यह व्यवस्था सर्वथा लुप्त हो गई है, जिससे न केवल भारतवर्ष दुःखी है, अपितु विश्व में त्राहि–त्राहि मची हुई है ।

उत्पादन और वितरण का परस्पर सम्बन्ध है । उत्पादन एक के हाथ में हो और वितरण दूसरे के हाथ में, यह परम्परा समाज–व्यवस्था को नष्ट करने के लिए घुन का काम करती है । हम रूस की आर्थिक प्रणाली को दोष दे सकते हैं; पर बारीकी से देखने पर विदित होता है कि उसमें इसी तत्व की प्रकारान्तर से प्रतिष्ठा की गई है । इसमें सन्देह नहीं कि इससे किसी हद तक व्यक्ति की स्वतंत्रता का घात होता है और व्यक्ति को आर्थिक दृष्टिकोण से समष्टि के अधीन रहने के लिए बाध्य होना

पड़ता है, किन्तु वर्तमान उत्पादन और वितरण की प्रणाली के चालू रहते इस दोष के प्रक्षालन का अन्य कोई उपाय भी नहीं है ।

प्राचीन काल में कृषक को ही सर्वेसर्वा माना गया था । वही उत्पादक था और वही वितरक । उस समय आज के समान कृषकों से व्यापारियों का स्वतंत्र वर्ग न था । यह बात इसी से स्पष्ट है कि उस समय कृषि और वणिज् एक ही व्यक्ति के हाथ में रखे गये थे ।

४. शूद्र वर्ण

चौथा कारण शिल्प है । गृह उद्योग में इसका महत्व सर्वोपरि है । प्राचीन काल में यह काम करने वाले मनुष्यों को ही शूद्र वर्ण का कहा गया था इसमें सन्देह नहीं।

किन्तु धीरे–धीरे यह स्थिति बदलती गई और आजीविका के आधार से अनेक जातियाँ बनने लगी । समाज में ऐसे मनुष्यों का एक स्वतंत्र वर्ग बना, जो नाच–गाने से अपनी आजीविका करने लगा । इसके बाद इस स्थिति में और भी अनेक परिवर्तन हुए और अन्त में उन मनुष्यों का एक वर्ग सामने आया, जिनका पेशा सेवावृत्ति करना रह गया । समाज में यह स्थित्यन्तर कैसे हुए, इसके कारण अनेक हैं । किन्तु यहाँ हम उन कारणों का विचार नहीं करेंगे; क्योंकि यह एक स्वतंत्र निबन्ध का विषय है। तत्काल हमें यह देखना है कि शूद्रों की इस स्थिति के उत्पन्न करने में मुख्य कारण कौन से हैं ?

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि हमारे देश की श्रमण और वैदिक–ये दो संस्कृतियाँ मुख्य हैं, इसलिए शूद्रों की वर्तमान स्थिति के कारणों की छान–बीन करने के लिए इनके साहित्य का आलोडन करना आवश्यक हो जाता है । उसमें भी सर्वप्रथम प्राचीन जैन और बौद्ध साहित्य को लीजिये । बौद्धों के "धम्मपद" और जैनों के "उत्तराध्ययन" में समान रूप से यह गाथा आती है–

कम्मुणा बंभणो होइए कम्मुणा होइ खत्तिओ ।

वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ।।

इसमें चारों वर्णों की स्थापना का मुख्य आधार कर्म माना गया है ।

यद्यपि इससे इस बात पर प्रकाश नहीं पड़ता कि किस वर्ण का कर्म क्या है? फिर भी श्रमण संस्कृति के अनुसार इन चार वर्णों की स्थापना का मुख्य आधार सामाजिक उच्चता और नीचता तथा जातिवाद नहीं है, इतना इससे स्पष्ट हो जाता है ।

इन वर्णों का पृथक–पृथक कर्म क्या है इसकी विशद व्याख्या आचार्य जटासिंहनन्दि ने अपने वरांगचरित में की है । इसका उल्लेख हम पहले ही कर आये हैं ।

जैन परम्परा में इसके बाद आदिपुराण का काल आता है । आदिपुराण में चार वर्णों के वे ही कार्य लिखे है, जिनका उल्लेख जटासिंहनन्दि ने किया है । किन्तु शूद्रों के कार्यों में उसके कर्ता ने एक नये कर्म का प्रवेश और किया है, जिसे उन्होंने न्यग्वृत्ति (सेवावृत्ति) शब्द से सम्बोधित किया है । ये शूद्र वर्ण के कार्य का शिल्प कर्म के रूप में उल्लेख न कर उसके स्थान में मुख्य रूप से न्यग्वृत्ति शब्द का निर्देश करते हैं।

यह तो श्रमण–परम्परा की स्थिति है । वैदिकों में ऋग्वेद पहला है । इसके पुरुष सूक्त में सृष्टि के उत्पत्ति क्रम का निर्देश करते हुए लिखा है कि जिस विराट् पुरुष ने नदी, तालाब, वृक्ष, लताएँ, पशु, देव और दानव बनाए हैं उसका ब्राह्मण मुख है, क्षत्रिय बाहु हैं, वैश्य जंघाएँ हैं और शूद्र दोनों पैर है ।

अथर्ववेद में भी यह उल्लेख आता है, किन्तु वहाँ वैश्यों को जंघाओं की उपमा न देकर उदर की उपमा दी गई है ।

वेदों के बाद ब्राह्मण और उपनिषद् काल आता है, किन्तु यहाँ इनके कार्यों का अलग से विचार नहीं किया गया है ।

इसके बाद मनुस्मृति काल आता है । मनुस्मृति ब्राह्मण धर्म का प्रमुख ग्रन्थ है । इसकी रचना मुख्यतया चार वर्णोंके धर्म कर्त्तव्यों का कथन करने के लिए की गई थी ।

यहीं पर हम प्रसंगवश धर्म के सम्बन्ध में दो शब्द देना चाहते हैं। 'धर्म' शब्द मुख्यतया दो अर्थों में व्यवहृत होता है – एक व्यक्ति के जीवन संशोधन के अर्थ में जिसे हम आत्मधर्म कहते हैं और दूसरा समाज कर्त्तव्य के अर्थ में। मनुस्मृतिकार ने इन दोनों अर्थों में धर्म शब्द का उल्लेख किया है । वे समाज कर्त्तव्य को वर्णधर्म और दूसरे को सामान्य धर्म कहते हैं । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष – इन चार पुरुषार्थों में धर्म पुरुषार्थ से वर्ण धर्म ही लिया गया है । उनके मत से सामान्य धर्म अर्थात आत्मधर्म के अधिकारी सब मनुष्य हैं, किन्तु समाज कर्त्तव्य सबके जुदे–जुदे हैं । गीता में 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' से इसी समाज धर्म का ग्रहण होता है ।

मनुस्मृतिकार १०वें अध्याय में शूद्र वर्ण के कार्यों का निर्देश करते हुए कहते हैं–

विप्राणां वेदविदुषां ग्रहस्थानां यशस्विनाम् ।

शूश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रेयसः परः ।।३३४।।

वेदपाठी, ग्रहस्थ और यशस्वी विप्रों की सेवा करना यही शूद्रों का परम धर्म है जो निश्रेयस का हेतु है ।

इसके आगे वे पुनः कहते हैं –

शचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहंकृत ।

ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुतेः ।।३३५।।

पवित्र रहने वाला, अच्छी टहल करने वाला, धीमे से बोलने वाला, अहंकार से रहित और ब्राह्मण आदि तीन वर्णों के आश्रय में रहने वाला शूद्र ही उत्तम जाति को प्राप्त होता है ।

इस तरह इन दोनों परम्पराओं के साहित्य का आलोडन करने से यह बात बहुत साफ हो जाती है कि शूद्र वर्ण का मुख्य कर्त्तव्य तीन वर्णों की सेवा करना मनुस्मृति की देन है । आदिपुराण में यह बात मनुस्मृति से आई है । आदिपुराण में जो शूद्रों के अस्पृश्य–ये भेद किये गये हैं, वह भी मनुस्मृति व इतर ब्राह्मण ग्रन्थों का अनुकरण मात्र है । यह इसी से स्पष्ट है कि आदिपुराण के पहले अन्य किसी आचार्य ने शूद्रों के न तो कारु–अकारु और स्पृश्य–अस्पृश्य–ये भेद किये हैं और न उनका काम तीन वर्णों की सेवा करना ही बतलाया है । आदिपुराणकार को ऐसा क्यों करना पड़ा इसके लिए हमें भारत की तात्कालिक और इससे पहले की परिस्थिति का अध्ययन करने की आवश्यकता है । इस समय भारतवर्ष में हिन्दुओं और मुसलमानों का विरोध जिस स्तर पर चालू है ठीक वही स्थिति उस समय श्रमण–ब्राह्मणों की थी। उस समय श्रमणों और श्रमणोपासकों को 'नंगा लुच्चा' कहकर अपमानित किया जाता था, उनके मंदिर ढाये जाते थे, मूर्त्तियों के अंग भंग कर उन्हें विद्रूप बनाया जाता था, बौद्धों को 'बुद्धू' शब्द द्वारा सम्बोधित किया जाता था और जैन–बौद्ध–साधुओं को अनेक प्रकार से अनेक कष्ट दिये जाते थे । मीनाक्षी के मन्दिर में अंकित चित्र आज भी हमें उन घटनाओं की याद दिलाते हैं । ८–९वीं शताब्दी में यह स्थिति इतनी असह्य हो गयी थी जिसके परिणामस्वरूप बौद्धों को तो यह देश ही छोड़ देना पड़ा था और जैनों को तभी यहाँ रहने दिया गया था जब उन्होंने ब्राह्मणों के सामने सामाजिक दृष्टि से एक तरह से आत्मसमर्पण कर दिया था । यह तो हम आगे चलकर बतलायेंगे कि आदिपुराण में मनुस्मृति से कितना अधिक साम्य है । यहाँ केवल इतना ही उल्लेख

करना पर्याप्त है कि आदिपुराण में शूद्र वर्ण का जो सेवावृत्ति कार्य बतलाया गया है उसका श्रमण परम्परा से मेल नहीं खाता ।

इस प्रकार शूद्र वर्ण का प्रधान कार्य क्या था और बाद में उनकी सामाजिक स्थिति में किस प्रकार परिवर्तन होता गया इसका संक्षेप में निर्देश किया ।

मनुस्मृति और शूद्र वर्ण

अब यहाँ यह देखना है कि शूद्र वर्ण की इस तरह की निकृष्ट अवस्था के होने में मनुस्मृति का कितना हाथ है । यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि मनुस्मृति में चारो वर्णों के कार्यों और उनके परस्पर सम्बन्ध का विस्तृत विचार किया गया है। उसके कर्त्ता ग्रन्थ के आदि में मंगलाचरण के बाद स्वयं लिखते हैं–

भगवन् सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः ।

अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ।।२।।

हे भगवन्! सब वर्णों और संकीर्ण जातियों के धर्मों को आद्यन्त आप हमें कहने के योग्य हैं ।

मनुस्मृति कहती है–

"ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इनकी निष्कपट–भाव से सेवा करना यही एक धर्म शूद्र का कहा गया है (१.९१) । शूद्र सन्ध्या करने के अधिकारी नहीं तथा जो द्विज प्रातः और सायंकाल के समय संध्या नहीं करता, वह भी शूद्र के समान सब प्रकार के द्विज कर्त्तव्य से बहिष्करणीय है (२.१०३) । शूद्र–कन्या से चारों वर्णों के मनुष्य विवाह कर सकते हैं, परन्तु शूद्र–शूद्र कन्या से विवाह कर सकता है (३.१३) । श्राद्ध में भोजन करते समय ब्राह्मण को चाण्डाल न देखे (३.२३९) । शूद्रों के राज्य में निवास न करे (४.६१) । शूद्र को उपदेश न देवे और न जूठ और हवन में बचा हुआ शाकल्य देवे, तथा शूद्रों को धर्म और व्रत का उपदेश न करे (४.८०) । शूद्रों को धर्म और व्रत का उपदेश करने वाला मनुष्य उसी शूद्र के साथ असंवृत नामक नरक को प्राप्त होता है (४.८१) । श्राद्ध कर्म के योग्य शूद्र का पका अन्न न खावे, किन्तु अन्न न मिलने पर एक रात्रि निर्वाह योग्य उससे कच्चा अन्न ले लेवे (४–२२३) । मृतक शूद्र को गाँव के दक्षिण द्वार से ले जावे (५–९२) । मरे हुए ब्राह्मण को शूद्र के द्वारा न ले जाय, क्योंकि शूद्र के स्पर्श से दूषित हुई वह शरीर की आहुति स्वर्ग देने वाली नहीं होती (५.१०४) । शूद्रों को मास में एक बार हजामत बनवाना चाहिये और ब्राह्मण

का जूठा भोजन करना चाहिए (५.१४०) । केवल जाति से जीविका निर्वाह करने वाला धर्महीन ब्राह्मण राजा की ओर से धर्म वक्ता हो सकता है, परन्तु शूद्र कदापि नहीं हो सकता (८.२०) । जो शूद्र अपने से उच्च वर्ण की निन्दा करे, तो राजा उसकी जिह्वा निकाल ले, क्योंकि उसका पैर से जन्म है और उसको अपने से उच्च को कहने का अधिकार नहीं है (८.२७०) । यदि कोई शूद्र ब्राह्मण को नीच आदि कुवचन कहे तो अग्नि में तपाकर १० अंगुल की लोहे की कील उसके मुंह में ठोंक दे (८.२७१)। (८.२७२) । मनु जी की आज्ञा है कि शूद्र जिस अंग से द्विजातियों की ताड़ना करे उसी अंग का भंग करना चाहिए (८.२७६) । हाथ से मारे तो हाथ, पैर से मारे तो पैर भंग कर देना चाहिए (८.२८०) । शूद्र के ब्राह्मण के आसन पर बैठने पर लोहा गर्म करके उसकी पीठ दाग दे, देश से निकाल दे और उसके शरीर से मांस पिण्ड कटवा दे (८.२८१) । शूद्र के ब्राह्मण पर थूकने पर दोनों होंठ कटवा दे, मूतने पर लिंगेन्द्रिय छिदवा दे और अपान वायु छोड़ने पर गुदा छेदन कर दे (८.२८२) । जो शूद्र अभिमानवश द्विजाति को बाल पकड़ कर पीड़ा दे या पैर या वृषणों को कष्ट दे; तो उसके हाथ को कटवा दे (८२८३)। शूद्र यदि भर्ता आदि द्वारा रक्षित स्त्री के साथ गमन करे तो उसका सर्वस्व राजा हर लेवे । यदि अरक्षित स्त्री के संग गमन करे; तो उसकी लिंगेन्द्रिय कटवा दे (८.३७४) । क्रीतदास या प्राप्तदास इन्हीं से टहल सेवा करावे, क्योंकि ब्रह्मा जी ने शूद्र को ब्राह्मण का दास कर्म करने के लिए ही उत्पन्न किया है (८.४१३), (८.४१४), (८.४१६) । शूद्र का काम है कि वह निरंतर अपने कार्य में रत रहे (८.४१८) । स्वर्ग की प्राप्ति के वास्ते और इस लोक में अपनी गुजर के वास्ते शूद्र ब्राह्मण की सेवा करे, क्योंकि वह ब्राह्मण का सेवक है । सेवक शब्द से शूद्र की कृतकृत्यता है (१०.१२२) । ब्राह्मण की सेवा करना शूद्र का परम धर्म कहा है, शूद्र जो अन्य कर्म करता है, वह सब निष्फल हो जाता है (१०.१२३)। सेवक शूद्र के वास्ते ब्राह्मण उच्छिष्ट भोजन, पुराने वस्त्र और धान्यों के बाकी बचे कण और पुराने बर्तन देवे (१२.१२५) । शूद्र का उपनयन संस्कार न करे (१०.१२६) । क्योंकि उसके पास धन बढ़ जाने पर वह ब्राह्मणों को सताने लगता है (१०.१२६) ।"

भारतीय परम्परा में विषमता के बीज मनुस्मृति ने बोए, यह इन उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है ।

उपसंहार

भारतवर्ष में ईसवी चौथी शताब्दी के पूर्व अछूतपन की बीमारी नहीं थी। जब ब्राह्मण धर्म का भारतवर्ष में प्राबल्य हुआ और वे जैन–बौद्धों को परास्त कर मनुस्मृति

के आधार से समाज व्यवस्था को दृढ़ मूल करने में समर्थ हुए तभी से इस भयानक बीमारी ने हमारे देश में प्रवेश किया है ।

बौद्ध इस देश को छोडकर चले गये इसलिए वे इस बीमारी के शिकार न हो सके, किन्तु जैनों कों ८–९वीं शताब्दी में इसके सामने न केवल नतमस्तक होना पड़ा, अपितु समानता के आधार पर स्थापित अपनी पुरानी सामाजिक व्यवस्था से उन्हें चिरकाल के लिए हाथ धोने पड़े!

ब्राह्मण धर्म की समाज व्यवस्था के अनुसार अछूतपन एक स्थायी वंशानुगत कलंक है, जो किसी तरह धुल नहीं सकता ।

आज के रूढिवादी जैनी कुछ भी क्यों न कहें, पर हमें इस बात का संतोष है कि जैन धर्म की उस उदात्त भावना के दर्शन उसके विशाल साहित्य में आज भी होते हैं, जिसने इसका सदा काल तिरस्कार किया है । तभी तो आचार्य जिनसेन कहते हैं–

मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा ।

वृत्तिभेदाहिताद् भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ।।

आदिपुराण पर्व ३८ श्लोक ४५

जाति नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुई मनुष्य जाति एक है । यदि उसके चार भेद माने भी जाते हैं, तो केवल आजीविका के कारण ही हैं ।

हरिजन मन्दिर प्रवेश चर्चा

जब से हरिजन मन्दिर प्रवेश बिल पास हुआ है तभी से जैन समाज में 'जैन हिन्दू नहीं हैं' इस बिलगाववादी विचाराधारा ने जोर पकड़ा है । इसका एक मात्र उद्देश्य है — इस कानून से जैन मन्दिरों को मुक्त कराना । स्थिति पालक भाई तो यहाँ तक लिखने का साहस करते हैं कि 'भगवान महावीर की वर्ण व्यवस्था को घरपतुआ बच्चों का खेल बना लिया है ।' ये बन्धु जैन संस्कृति के इस मूल आधार को ही भुला देते हैं कि वैदिक संस्कृति जहाँ जन्मजात वर्ण व्यवस्था को स्वीकार करती है वहाँ जैन संस्कृति केवल इसे व्यवहार मात्र मानती है । एक ही पर्याय में गोत्र बदल जाता है और वर्ण भी । भरत ने त्रिवर्णों में से ही जिन्होंने व्रत धारण किये थे, उन्हें ब्राह्मण बनाया था और इसलिए गोत्र परिवर्तन का कारण सकल संयम और संयम–संयम आगम ग्रन्थों में बताया गया है । नीच गोत्री संकल संयमी हो सकता है, म्लेच्छ क्षपक–श्रेणी चढ़ कर मोक्ष जा सकता है फिर भी ये भाई जन्मजात वर्ण व्यवस्था से चिपटे हुए हैं । ये भाई शूद्रों को अस्पृश्य बता कर उन्हें मन्दिर में भी आने नहीं देना चाहते । हमारे कुछ सुधारक भाई व्यवहार बर्ताव में अस्पृश्यता हटाने का समर्थन करके भी मन्दिर कानून से मुक्ति पाने के लिए 'जैन हिन्दू नहीं है' यह नारा लगा रहे हैं। दक्षिण महाराष्ट्र सभा का प्रस्ताव हमारे सामने है । उसने अस्पृश्यता निवारण के बम्बई सरकार के प्रयत्न की सराहना करके भी हरिजन मन्दिर प्रवेश कानून से जैनियों को बरी करने की मांग की है। और उसका आधार यह बताया है कि यद्यपि जैन अभी तक प्राय: हिन्दू लॉ से शासित होते आये हैं पर जिन बातों में जैनियों का विशेष विधि विधान होता है उन बातों में जैनों पर वर्तमान हिन्दू लॉ भी लागू नहीं होता है, वे हिन्दुओं से पृथक् हैं । जहाँ तक बम्बई सरकार के कानून का सम्बन्ध है वह हरिजनों की अयोग्यता निवारण करने वाला है । कोई भी व्यक्ति मात्र हरिजन होने के कारण मन्दिर में जाने से रोका नहीं जा सकता । बम्बई के प्रधान मंत्री ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'यदि आप मुझे मन्दिर में ले जा सकते हैं तो डॉ० अम्बेडकर को नहीं रोक सकते' इसमें पूजा पाठ के सब अधिकार सबको देने की बात कहाँ है ? प्रश्न इतना ही है कि हरिजनों में अस्पृश्य होने के कारण जो अयोग्यता आरोपित कर रखी थी उसे हटा कर उन्हें मानवाधिकार दिये गये हैं । यदि हम कानून में हिन्दू शब्द से जैन को भी लिया है तो भी हमें क्यों आपत्ति है ? जब आज तक हम अनेक बातों में हिन्दू लॉ से शासित होते आये हैं तब इसमें हिन्दू लॉं से शासित होने में क्या खतरा है जब कि हमारी संस्कृति हमें जन्मना वर्ण व्यवस्था और अस्पृश्यता के मूलोच्छेद की शिक्षा देती है । हमारे शास्त्र शूद्रों को मोक्ष तक का विधान करते हैं।

शूद्रों का क्षुल्लक पद का धारण करना तो कट्टर रूढ़िग्रस्त भी स्वीकार करते ही हैं। ऐसी दशा में शूद्रों द्वारा मन्दिर में देवदर्शन कर लेने का कानूनी हक भी प्राप्त कर लेने में हमें क्यों बाधा है ? यह तो हमारी संस्कृति का ही प्रचार हुआ । उससे बचने का द्राविड़ी प्राणायाम करने से क्या लाभ ?

नये शासन विधान की ११वीं धारा में नागरिकता के सामान्य अधिकारों में ही अस्पृश्यता निवारण का मौलिक अधिकार दिया गया है । २६ जनवरी १९५० से इस कानून के लागू होने पर सवर्ण और असवर्ण हिन्दू में कोई भेद नहीं रह जायगा । हम किसी को हरिजन होने के कारण अस्पृश्य या नीच नहीं समझ सकेंगे । इस मानवाधिकार की समुज्ज्वल घोषणा से हमें तो मंदिरों में घी के दिये जलाने चाहिए कि आज महावीर के शासन की सच्ची प्रभावना हुई है, उनके और समवशरण के प्रतीक ये जिनालय आज जनालय हुए । इस पर छाया हुआ वैदिक धर्म का तमस्तोम आज नष्ट हुआ । पर आज जैन समाज के ये सुधारक बन्धु भी किसी बहाने से इस सुधार से छुटक जाना चाहते हैं ।

जैन धर्म के व्यापक प्रभुत्व को देख कर पहले वैदिक धर्म को खतरा मालूम हुआ था और उसने यह घोषणा की थी *"हस्तिना ताड़यमानो पि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्"* अर्थात हाथी के पैर के नीचे दब जाना अच्छा पर जैन मन्दिर में जाना उचित नहीं। आज भी हम लोग इस घोषणा का विरोध करते हैं और ऐसी घोषणा करने वालों को भला बुरा कहते हैं पर स्वयं इस मानव समानाधिकार अहिंसक युग में "नेतृभिः प्रेर्यमाणो पि नागच्छेज्जैनमन्दिरम्" अर्थात् जन नेताओं से प्रेरणा होने पर भी जैन मन्दिर में मत आओ यह धर्म विरोधी, अहिंसा विरोधी और मानवता विरोधी नारा लगाने को तैयार हैं । हमारा सांस्कृतिक तत्व यदि कानून से फलित होता है तो उसे हम धर्म में हस्तक्षेप क्यों मानते हैं ।

भगवान् महावीर ने वर्ण—व्यवस्था का विरोध सामाजिक क्षेत्र में उतनी तीव्रता से न भी किया हो क्योंकि सामाजिक व्यवस्थाएँ व्यवहाराधीन थी पर धार्मिक क्षेत्र में तो उन्होंने इस वर्ण व्यवस्था की धज्जियाँ ही उड़ा दी थी । उनके संघ मे चांडाल का भी वही स्थान था जो किसी ब्राह्मण का । व्रत धारण करने पर यह सब भेद ही नष्ट हो जाता है । पर आज के हमारे सुधारक बन्धु सामाजिक व्यवहार में अस्पृश्यता का उच्छेद करने को तत्पर होकर भी धार्मिक क्षेत्र में उसे कायम रखना चाहते हैं, किमाश्चर्यमतः परम् । मन्दिर प्रवेश शुद्ध धार्मिक प्रश्न है, इसमें वर्णभेद के आधार से कोई समझौता नहीं हो सकता । वहाँ तो मानव मात्र को सम भूमिका पर बैठना

ही होगा । हाँ, वहाँ के जो नियम होंगे वे सभी को पालने होंगे, वहाँ जन्मगत जाति के कारण किसी को विशेष संरक्षण नहीं दिया जा सकता । अतः कम से कम हरिजन मन्दिर प्रवेश वाले सांस्कृतिक प्रश्न पर जैन हिन्दू के भेद का नारा लगा कर उससे निकल भागने का प्रयत्न करना न शास्त्रीय है, न सांस्कृतिक है और न सामयिक ही । हमें आश्चर्य होता है जब राष्ट्रीय नेता हमारी समाज को यह कहते हैं कि "भाई, जैन धर्म तो जाँति–पाँति मानता ही नहीं है, फिर क्यों आप लोग इस हरिजनोद्धार में बाधक होते हो" जिस बात को हमें कहना चाहिए था और राष्ट्रीय नेताओं के इस मानवोत्थान के प्रयत्न की सराहना करके उन्हें सहयोग देना चाहिए था वहाँ हम जैन जैन धर्म को विकृत रूप में देश के सामने उपस्थित करके मानते हैं कि हमने जैन संस्कृति की सेवा की है ।

हमारे कुछ दक्षिणी भाईयों ने यह भय उत्पन्न किया है कि इस बिल से जैन हिन्दू बन जायेंगे और उन्हें वैदिक बन जाना होगा । बैरि० सावरकर के द्वारा की गयी जैन–बौद्ध–सिख संग्राहक 'हिन्दू' की परिभाषा स्वीकार करने में भी उन्हें यही डर है कि जैन लोग वैदिक बन जायेंगे । हमने ज्ञानोदय के चौथे अंक में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि "सावरकर कृत व्याख्या के मान लेने पर भौगोलिक दृष्टि से और परम्परागत आर्यत्व की दृष्टि से हम हिन्दू होकर भी जैसी कि पं० सुखलाल जी की सूचना है कि–हिन्दू महासभा के सदस्य हरगिज नहीं बनना चाहते, क्योंकि वर्तमान में उसका संघटन वर्णव्यवस्था और ब्राह्मण प्रभुत्व के वर्गोच्चत्व की भावना पर है, भगवाध्वज उसी श्रुतिस्मृत्यनुमोदित परम्परा का प्रतीक है । अतः हमारा हिन्दू महासभा के कर्णधारों से अनुरोध है कि यदि वे 'हिंदू' शब्द की उक्त व्याख्या जैनों से स्वीकार कराना चाहते हैं तो वैदिक संस्कृति के प्रतीक भगवाध्वज के स्थान पर सर्वानुमोदित ध्वज स्वीकार करें । उसमें रही वर्गोच्चत्व की भावना को दूर कर समान आधारों से सर्व संग्राहक संगठन करें ।" जब हम देखते हैं कि हमारे ये बन्धु स्वयं आनखशिख वैदिक वर्ण–व्यवस्था में डूबे हुए हैं और उसी वर्ण–व्यवस्था के घृणित अभिशाप रूप अस्पृश्यता को कायम रखने के असांस्कृतिक उद्देश्यों से जैनों को वैदिक बन जाने का भय दिखा रहे हैं । इतना ही नहीं 'ज्ञानोदयकारों' को नीति और धर्म का अन्तर समझने की सलाह दे रहे हैं तो हमारे आश्चर्य का कोई ठिकाना नहीं रहता । 'ज्ञानोदय' ने प्रारम्भ में ही इस प्रश्न को धार्मिक माना है और इसीलिए शास्त्राध ार से इसकी विवेचना की है । और भारत के नव निर्माण के समय जैन धर्म का समुज्ज्वल पतितपावन स्वरूप सामने रखने का सांस्कृतिक प्रयत्न किया है । यदि हिन्दू शब्द की मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि का संग्रह करने वाली परिभाषा बनाने

का प्रश्न उठता है तो ज्ञानोदय उसका स्वागत करेगा । हमने धर्म गुरुओं से भी इसीलिए निवेदन किया था और अब भी कर रहे हैं कि वे इस वैदिक वर्ण व्यवस्था का आग्रह छोड़कर विशुद्ध मूल जैन संस्कृति के पुनीत रूप का प्रचार करें । ज्ञानोदय ने इस प्रश्न का शास्त्रीय आधार उपस्थित किया ही है । वैदिक धर्म के प्रभाव से अपनी रक्षा के लिए हमें आवश्यक है कि जो बुराईयाँ वैदिकों के संसर्गवश हममें आ गयी हैं उन्हें अविलम्ब दूर करके अपनी संस्कृति के मूल तत्वों को जीवन में लाएँ और मानव मात्र के समानाधिकार को स्वीकार कर प्राणिमात्र के प्रति अहिंसा की उच्च भावना की उपासना करें ।

सावरकर की परिभाषा से विशाल आर्यसंघ या हिन्दू संघ में शामिल हो जाने से हम वैदिक नहीं बनेंगे किन्तु हरिजनोद्धार अस्पृश्यता निवारण जैसे जैन तत्वों का विरोध कर अवश्य ही हम सक्रिय वैदिक हो रहे हैं । इस कानून के विरोध में कोई सत्याग्रह (?) करना चाहते हैं तो कोई अन्न त्याग कर रहे हैं; कोई फेडरल कोर्ट में न्याय पाने की सलाह दे रहे हैं । इन धर्म के ठेकेदारों की इस करनी से जैन धर्म, जैन संस्कृति और जैन समाज का जो अहित होगा उसे भावी पीढ़ी क्षमा नहीं कर सकेगी । सी० पी० में इसके लक्षण दिखने लगे हैं । वहाँ हिन्दू ट्रस्टों का उपयोग जैन नहीं कर पायेंगे । हिन्दू मन्दिर, उनसे लगे हुए तालाबों या अन्य जलाशयों पर जैन नहीं जा सकेंगे । अर्थात आज का हरिजन तो वहाँ जा सकेगा, पर ये जैन नहीं जा पायेंगे । और धीरे—धीरे यह विष आर्थिक और अन्य सामाजिक क्षेत्रों में व्याप्त होकर हमें योग्यता के बल पर जो राजनैतिक स्वत्व प्राप्त हो जाते हैं वे इस बिलगाववादी प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया में समाप्त हो जाएँगे। अतः हमारा स्थितिपालकों और जैन समाज के प्रमुखों से निवेदन है कि वे शास्त्र संस्कृति और समय को पहिचानने का प्रयत्न करें और इस नव निर्माण के समय ऐसे बीज न बोने दें जिससे भावी समाज का जीवन दूभर हो जाए ।

जिनागम के परिप्रेक्ष्य में जिनमन्दिर-प्रवेश

शूद्र जिनमन्दिर में जाएँ इसका कहीं निषेध नहीं

आगम और युक्ति से यह सिद्ध है कि अन्य वर्ण वाले मनुष्यों के समान शूद्रवर्ण के मनुष्य भी जिनमन्दिर में जाकर दर्शन और पूजन करने के अधिकारी हैं । जिस धर्म में मन्दिर में जाकर दर्शन और पूजन करने की योग्यता तिर्यञ्चों में मानी गई हो, उसके अनुसार शूद्रों में इस प्रकार की योग्यता न मानी जाये, यह नहीं हो सकता। कुछ समय पूर्व तक दस्साओं को मन्दिर में जाने का निषेध था । किन्तु सत्य बात जनता की समझ में आ जाने से यह निषेधाज्ञा उठा ली गई है । जब निषेधाज्ञा थी, तब दस्साभाई मन्दिर में जाकर पूजा करने की पात्रता नहीं रखते थे, यह बात नहीं है । यह वास्तव में धार्मिक विधि न होकर एक सामाजिक बन्धन था जो दूसरों की देखादेखी जैनाचार में भी सम्मिलित कर लिया गया था। किन्तु यह ज्ञात होने पर इससे न केवल दूसरों के नैसर्गिक अधिकार का अपहरण होता है, अपितु धर्म का भी घात होता है, यह बन्धन उठा लिया गया है । इसी प्रकार शूद्र मन्दिर में नहीं जा सकते यह भी सामाजिक बन्धन है, योग्यतामूलक धार्मिक विधि नहीं । इसका तात्पर्य यह है कि आगम के अनुसार तो सबके लिए समवसरण के प्रतीक रूप जिनमन्दिर द्वार खुला हुआ है । वह न कभी बन्द होता है और न कभी बन्द किया जा सकता है, क्योंकि जिनमन्दिर में जाकर और जिनदेव के दर्शन पर अन्य मनुष्यों और तिर्यञ्चों के समान वे भी जिनदेव के दर्शन द्वारा आत्मानुभूति कर सकते हैं । यही कारण है कि आगम में कहीं भी शूद्रों के मन्दिर प्रवेश के निषेधरूप वचन नहीं मिलता ।

वैदिक परम्परा के अनुसार शूद्रों को धर्माधिकार से वञ्चित क्यों किया गया है, इसका एक कारण है । बात यह है कि आर्यों के भारतवर्ष में आने पर यहाँ मनुष्यों को जीत कर जिनको उन्होंने दास बनाया था उनको ही उन्होंने शूद्र शब्द द्वारा सम्बोधित किया था । वे आर्यों की बराबरी से सामाजिक अधिकार प्राप्त न कर सकें, इसलिए उन्हें धर्माधिकार (सामाजिक धर्माधिकार) से वञ्चित किया गया था ।[1] किन्तु जैन धर्म के न तो सामाजिक धर्म हैं और न ही इसका दृष्टिकोण किसी को दास भाव से स्वीकार करने का ही है । यद्यपि तत्वार्थ सूत्र में परिग्रह परिणाम व्रत का निर्देश करने के प्रसंग से दास और दासी ये शब्द आये हैं और इस व्रत में उनका परिमाण करने की बात कही गई है । किन्तु उसका तात्पर्य किसी को दास–दासी बनाने का नहीं है । जो मनुष्य पहले दास–दासी रखे हुए थे, वे जैन उपासक की

---

१. देखो मनुस्मृति अध्याय ४ श्लोक ८० आदि।

दीक्षा लेते समय परिग्रह के समान उसका भी परिमाण कर लें और शेष को दास–दासी के कार्य से मुक्त कर नागरिकता के पूरे अधिकार दे दें । साथ ही वे गृहस्थ जब समस्त परिग्रह का त्याग करें तो परिग्रहत्याग–प्रतिमा पर आरोहण करने लगें, तब चाहे दास–दासी हों या अन्य कोई सबको समान भाव से नागरिक समझें और धर्म में उच्च से उच्च नागरिकता का जो अधिकार है, वही अधिकार सबका मानें यह भी उसका तात्पर्य है । प्राचीन काल में जो नागरिक सामाजिक अपराध करते थे उनमें से अधिकतर दण्ड के भय से घर छोड़कर धर्म की शरण में चले जाते थे, यह प्रथा प्रचलित थी । ऐसे व्यक्तियों को या तो बौद्ध धर्म में शरण मिलती थी या जैन धर्म में । बुद्ध देव के सामने इस प्रकार का प्रश्न उपस्थित होने पर उत्तरकाल में उन्होंने तो यह व्यवस्था दी कि यदि कोई सैनिक सेना में से भाग आवे या कोई सामाजिक अपराध करने के बाद धर्म की शरण में आया हो तो उसे बुद्ध धर्म में दीक्षित न किया जाय, परन्तु जैन धर्म ने व्यक्ति के इस नागरिक अधिकार पर भूलकर भी प्रतिबन्ध नहीं लगाया है । इसका कारण यह नहीं है कि वह दोष को प्रश्रय देना चाहता है। यदि कोई पर से ऐसा निष्कर्ष निकाले भी तो यह उसकी सबसे बड़ी भूल होगी। वृक्ष को काटने वाला व्यक्ति यदि आतप से अपनी रक्षा करने के लिए उसी वृक्ष की छाया की शरण लेता है, तो यह वृक्ष का दोष नहीं माना जा सकता। ठीक यही स्थिति धर्म की है। काम, क्रोध, मद, मात्सर्य और मिथ्यात्व के कारण पराधीन हुए जितने भी संसारी प्राणी हैं, वे सब धर्म की जड़ काटने में लगे हुए हैं । जो तथाकथित शूद्र हैं वे तो इस दोष से बरी माने ही नहीं जाते, लौकिक दृष्टि से जो उच्चवर्णी मनुष्य हैं वे भी इस दोष से बरी नहीं है । तीर्थंकरों ने व्यक्ति के जीवन में वास करने वाले इस अन्तरंग मल को देखा था । फलस्वरूप उन्होंने उसी को दूर करने का उपाय बतलाया था। शरीर और वस्त्रादि में लगे हुए बाह्य मल का शोधन तो पानी, धूप, हवा और साबुन आदि से भी हो जाता है । परन्तु आत्मा में लगे हुए उस अन्तरंग मल को धोने का यदि कोई उपाय है तो वह एकमात्र धर्म ही है । ऐसी अवस्था में कोई तीर्थंकर यह कहे कि हम इस व्यक्ति के अन्तरंग मल को धोने के लिए इस व्यक्ति को अपनी शरण में आने देंगे और इस व्यक्ति को नहीं आने देंगे, यह नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि जिस प्रकार ब्राह्मण आदि उच्च वर्ण वाले मनुष्यों को जिनमन्दिर में जाकर पञ्चपरमेष्ठी की आराधना करने का अधिकार है, उसी प्रकार शूद्र वर्ण के मनुष्यों को भी किसी भी धर्मायतन में जाकर सामायिक, प्रमुख भगवत् भक्ति, स्तवन, पूजन और स्वाध्याय आदि करने का अधिकार है । यही कारण है कि बहुत प्रयत्न करने के बाद भी हमें किसी भी शास्त्र में 'शूद्र जिनमन्दिर में जाने के अधिकारी नहीं हैं' इसका समर्थन करने वाला वचन उपलब्ध नहीं हो सका। यह जैन धर्म का हार्द है।

हरिवंशपुराण का उल्लेख

अब हम हरिवंशपुराण का एक ऐसा उल्लेख उपस्थित करते हैं जिससे इसकी पुष्टि होने में पूरी सहायता मिलती है । बलभद्र विविध देशों में परिभ्रमण करते हुए विद्याधर लोक में जाते हैं और वहाँ पर बलि विद्याधर के वंश में उत्पन्न हुए विद्युद्वेग की पुत्री मदनवेगा के साथ विवाह कर सुखपूर्वक जीवन–यापन करने लगते हैं । इसी बीच सब विद्याधरों का विचार सिद्धकूट जिनालय की वन्दना का होता है । यह देखकर बलदेव भी मदनवेगा को लेकर सबके साथ उसकी वन्दना के लिए जाते हैं । जब सब विद्याधर जिनपूजा और प्रतिमा ग्रह की वन्दना कर अपने–अपने स्थान पर बैठ जाते हैं, तब बलदेव के अनुरोध करने पर मदनवेगा सब विद्याधर निकायों का परिचय कराती है । वह कहती है–'जहाँ हम और आप बैठे हैं इस स्तम्भ के आश्रय से बैठे हुए तथा हाथ में कमल लिए हुए और कमलों की माला पहिने हुए ये गौरक नाम के विद्याधर हैं । लाल माला को धारण किये हुए और लाल वस्त्र पहिने हुए ये गान्धार विद्याधर गान्धार नामक स्तम्भ के आश्रय से बैठे हैं। नाना प्रकार के रंग वाले सोने के रंग और पीत रंग के रेशमी वस्त्र पहिने हुए ये मानवपुत्रक निकाय के विद्याधर, मानव नामक स्तम्भ के आश्रय से बैठे हैं । कुछ आरक्त रंग के वस्त्र पहिने हुए और मणियों के आभूषणों से सुसज्जित ये मनुपुत्रक निकाय के विद्याधर मान नामक स्तम्भ के आश्रय से बैठे हैं । नाना प्रकार की औषधियों को हाथ में लिये हुए तथा नाना प्रकार के आभरण और मालाओं को पहिने हुए ये मूलवीर्य निकाय के विद्याधर औषधि नामक स्तम्भ के आश्रय से बैठे हैं । सब ऋतुओं के फूलों से सुवासित स्वर्णमय आभरण और मालाओं को पहिने हुए ये अन्तर्भूमिचर निकाय के विद्याधर भूमिमण्डक नामक स्तम्भ के आश्रय से बैठे हैं । नाना प्रकार के कुण्डलों और नागांगदों तथा आभूषणों से सुशोभित ये शंकुक निकाय के विद्याधर शंकु नामक स्तम्भ के आश्रय से बैठे हैं । मुकुटों को स्पर्श करने वाले मणिकुण्डलों से सुशोभित ये कौशिक निकाय के विद्याधर कौशिक नामक स्तम्भ के आश्रय से बैठे हैं । ये सब आर्य विद्याधर हैं। इनका मैंने संक्षेप में कथन किया । हे स्वामिन् ! अब मैं मातंग (चाण्डाल) निकाय के विद्याधरों का कथन करती हूँ । सुनो ! नीले मेघों के समान नील वर्ण तथा नीले वस्त्र और माला पहिने हुए ये मातंग निकाय के विद्याधर मातंग नामक स्तम्भ के आश्रय से बैठे हैं । श्मशान से प्राप्त हुई हड्डी और चमड़े के आभूषण पहिने हुए तथा शरीर में भस्म पोते हुए ये श्मशाननिलय निकाय के विद्याधर श्मशान नामक स्तम्भ के आश्रय से बैठे हैं । नील वैडूर्य रंग के वस्त्र पहिने हुए ये पाण्डुर निकाय के विद्याधर पाण्डुर नामक स्तम्भ के आश्रय से बैठे हैं । काल हिरण के चर्म के वस्त्र और माला पहिने

हुए ये कालश्वपाकी निकाय के विद्याधर काल नामक स्तम्भ के आश्रय से बैठे हैं । पिंगल केश वाले और तप्त सोने के रंग के आभूषण पहिने हुए ये श्वपाकी निकाय के विद्याधर श्वपाकी नामक स्तम्भ के आश्रय से बैठे हैं । पर्णपत्रों से आच्छादित मुकुट में लगी हुई नाना प्रकार की मालाओं का धारण करने वाले ये पार्वतेय निकाय के विद्याधर पार्वत नामक स्तम्भ के आश्रय से बैठे हैं । बाँस के पत्तों के आभूषण और सब ऋतुओं में उत्पन्न होने वाले फूलों की मालाएँ पहिने हुए ये वंशालय निकाय के विद्याधर वंशनामक स्तम्भ के आश्रय से बैठे हैं । महाभुजंगों से शोभायमान उत्तम आभूषणों को पहिने हुए ये ऋक्षमूलक निकाय के विद्याधर ऋक्षमूलक नामक स्तम्भ के आश्रय से बैठे हैं ।"

यह हरिवंश पुराण का उल्लेख है । इसमें ऐसे विद्याधर निकायों की भी चर्चा की गई है जो आर्य होने के साथ–साथ सभ्य मनुष्योचित उचित वेशभूषा को धारण किये हुए थे और ऐसे विद्याधर निकायों की भी चर्चा की गई है जो अनार्य होने के साथ–साथ चाण्डाल कर्म से भी अपनी आजीविका करते थे तथा हड्डियों और चमड़ों तक के वस्त्राभूषण पहिने हुए थे । यह तो स्पष्ट है कि विद्याधर लोक में सदा कर्मभूमि रहती है, इसलिए वहाँ के निवासी असि आदि षट्कर्म से अपनी आजीविका तो करते ही हैं । साथ ही उनमें कुछ ऐसे विद्याधर भी होते हैं जो श्मशान आदि में शव दाह आदि कर के, मरे हुये पशुओं की खाल उतारकर और हड्डियों का व्यापार करके, तथा इसी प्रकार के और भी निकृष्ट कार्य करके अपनी आजीविका करते हैं । इतना सब होते हुए भी वे दूसरे विद्याधरों के साथ जिनमन्दिर में जाते हैं, सब मिलकर पूजा करते हैं और अपने–अपने मुखियों के साथ बैठकर परस्पर में धर्म चर्चा करते हैं । यह सब क्या है ? क्या इससे यह सूचित नहीं होता कि किसी भी प्रकार की आजीविका करने वाला तथा निकृष्ट से निकृष्ट वस्त्राभूषण पहिनने वाला व्यक्ति भी मोक्ष मार्ग के अनुरूप धार्मिक प्राथमिक कृत्य करने में आजाद है । उसकी जाति और वेशभूषा उसमें बाधक नहीं होती। जिन आचार्यों ने सम्यग्दर्शन को धर्म का मूल कहा है और यह कहा है कि जो त्रस और स्थावर वध से विरत न होकर भी जिनोक्त आज्ञा का श्रद्धान करता है, वह सम्यग्दृष्टि है । उनके उस कथन का एकमात्र यही अभिप्राय है कि केवल किसी व्यक्ति की आजीविका, वेश–भूषा और जाति के आधार पर उसे धर्म का आचरण करने से नहीं रोका जा सकता । यह दूसरी बात है कि वह आगे–आगे जिस प्रकार व्रत, नियम और यम को स्वीकार करता जाता है, उसी प्रकार उत्तरोत्तर उसका हिंसाकर्म छूटकर विशुद्ध आजीविका होती जाती है, तथा अन्त में वह स्वयं पाणिपात्रभोजी बनकर पूरी तरह से आत्मकल्याण करने लगता है और अन्य प्राणियों

का आत्मकल्याण करने का मार्ग प्रशस्त करता है । वे पुरुष जिन्होंने जीवन भर हिंसादि कर्म करके अपनी आजीविका नहीं की है, सबके लिए आदर्श और वन्दनीय तो हैं ही। किन्तु जो पुरुष प्रारम्भ में हिंसादि कर्म करके अपनी आजीविका करते हैं और अन्त में उससे विरक्त हो मोक्षमार्ग के प्रतीक बनते हैं, वे भी सबके लिए आदर्श और वन्दनीय हैं ।

अन्य प्रमाण

इस प्रकार 'हरिवंशपुराण' के आधार से यह ज्ञात हो जाने पर भी कि चाण्डाल से लेकर ब्राह्मण तक प्रत्येक मनुष्य जिन मन्दिर में जिन पूजा आदि धार्मिक कृत्य करने के अधिकारी हैं, यह जान लेना आवश्यक है कि क्या मात्र 'हरिवंशपुराण' के उक्त उल्लेख से इसकी पुष्टि होती है या कुछ अन्य प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं जो इसकी पुष्टि में सहायक माने जा सकते हैं । यह तो स्पष्ट है कि 'महापुराण' की रचना के पूर्व किसी के सामने इस प्रकार का प्रश्न ही उपस्थित नहीं हुआ था, इसलिए महापुराण के पूर्ववर्ती किसी आचार्य ने इस दृष्टि से विचार भी नहीं किया है । शूद्र सम्यग्दर्शन पूर्वक श्रावक–धर्म को तो स्वीकार करे, किन्तु वह जिनमन्दिर में प्रवेश कर जिनेन्द्र देव की पूजन–स्तुति न कर सके, यह बात बुद्धिग्राह्य तो नहीं है, फिर भी जब महापुराण के कर्ता आचार्य जिनसेन ने जैन धर्म को वर्णाश्रम धर्म के साँचे में ढाल कर यह विधान किया कि इज्यादि षट्कर्म करने का अधिकार एकमात्र तीन वर्ण के मनुष्य को है, शूद्र को नहीं; तब उत्तरकालीन कतिपय लेखकों को इस विषय पर ध्यान देकर कुछ–न–कुछ अपना मत बनाना ही पड़ा है । उत्तरकालीन साहित्यकारों में इस विषय को लेकर जो दो मत दिखलाई देते हैं, उसका कारण यही है । सन्तोष की बात इतनी ही है कि उनमें से अधिकतर साहित्यकारों ने देवपूजा आदि धार्मिक कार्यों को तीन वर्ण के कर्त्तव्यों में परिगणित न करके श्रावक धर्म के कार्यों में ही परिगणित किया है और इस तरह उन्होंने आचार्य जिनसेन के कथन के प्रति अपनी असहमति व्यक्त की है । सोमदेवसूरि नीतिवाक्यामृत में कहते हैं–

आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्करः शारीरी च विशुद्धिः करोति ,

शूद्रमपि देवद्विजतपस्विपरिकर्मसु योग्यम् ।

तात्पर्य यह है कि जिस शूद्र का आचार निर्दोष है तथा घर, पात्र और शरीर शुद्ध है, वह देव, द्विज और तपस्वियों की भक्ति पूजा आदि कर सकता है ।

नीतिवाक्यामृत के टीकाकार एक अजैन विद्वान् हैं । उन्होंने भी उक्त वचन की टीका करते हुए एक श्लोक उद्धृत किया है । श्लोक इस प्रकार है—

गृहपात्राणि शुद्धानि व्यवहारः सुनिर्मलः ।

कायशुद्धिः करोत्येव योग्यं देवादिपूजने ।।

श्लोक का अर्थ वही है जो नीतिवाक्यामृत के वचन का कर आये हैं। इस प्रकार सोमदेवसूरि के सामने यह विचार उपस्थित होने पर कि शूद्र जिनमन्दिर में जाकर देवपूजा आदि कार्य कर सकता है या नहीं ? उन्होंने अपना निश्चित मत बनाकर यह सम्मति दी थी कि यदि उसका व्यवहार सरल है और उसका घर, वस्त्र तथा शरीर आदि शुद्ध है, तो वह मन्दिर में जाकर देवपूजा आदि कार्य कर सकता है ।

यहाँ पर इतना स्पष्ट जान लेना चाहिए कि सोमदेवसूरि ने इस प्रश्न को धार्मिक दृष्टिकोण से स्पर्श न करके ही यह समाधान किया है, क्योंकि धार्मिक दृष्टि से देवपूजा आदि कार्य कौन करे, यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता । कारण कि कोई मनुष्य ऊपर से चाहे पवित्र हो और चाहे अपवित्र हो, वह पञ्चपरमेष्ठी की भक्ति, विनय और पूजा करने का अधिकारी है । यदि किसी ने पञ्चपरमेष्ठी की भक्ति, विनय और पूजा की है, तो वह भीतर और बाहर सब तरफ से शुद्ध है और नहीं की है, तो वह न भीतर से शुद्ध है और न बाहर से शुद्ध है । हम भगवद्भक्ति या पूजा के प्रारम्भ में 'अपवित्रः पवित्रो वा' इस आशय के दो श्लोक पढ़ते हैं, वे केवल पाठमात्र के लिए नहीं पढ़े जाते हैं । स्पष्ट है कि धार्मिक दृष्टिकोण इससे भिन्न है । वह न तो व्यक्ति कर्म को देखता है और न उसकी बाहरी पवित्रता और अपवित्रता को ही देखता है। यदि वह देखता है तो एकमात्र व्यक्ति की श्रद्धा को, जिसमें से भक्ति, विनय, पूजा और दान आदि सब धार्मिक कर्म उद्भूत होते हैं । आचार्य अमितिगति ने इस सत्य को हृदयंगम किया था । तभी तो उन्होंने आचार्य जिनसेन द्वारा प्ररूपित छह कर्मों में से वार्ता के स्थान में गुरूपास्ति रखकर यह सूचित किया कि ये तीन वर्ण के कार्य न होकर गृहस्थों के कर्त्तव्य हैं । उन्होंने गृहस्थ के जिन छह कर्मों की सूचना दी है वे हैं—

देवपूजा, गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।

दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने—दिने ।।

पण्डित प्रवर आशाधर जी ने अपने सागरधर्मामृत, (अध्याय १ श्लो० १८) में इस प्रकार का संशोधन तो नहीं किया है । उन्होंने वार्ता के स्थान में उसे ही रहने दिया

है । परन्तु उसे रखकर भी उससे केवल असि, मषि, कृषि और वाणिज्य इन चार कर्मों से अपनी आजीविका करने वालों को ग्रहण न कर सेवा के साथ छहों कर्मों से अपनी आजीविका करने वालों को स्वीकार कर लेते हैं । और इस प्रकार इस संशोधन द्वारा वे भी यह सूचित करते हैं कि देवपूजा आदि कार्य तीन वर्ण के कर्त्तव्य न होकर गृहस्थ धर्म के कर्त्तव्य हैं । फिर चाहे वह गृहस्थ किसी भी कर्म से अपनी आजीविका क्यों न करता हो । इस प्रकार हम देखते है कि उत्तरकालवर्ती जितने भी साहित्यकार हुए हैं, प्रायः उन्होंने भी यही स्वीकार किया है कि जिनमन्दिर में जाकर देवपूजा आदि कार्य जिस प्रकार ब्राह्मण आदि तीन वर्ण का गृहस्थ कर सकता है, उसी प्रकार चाण्डाल आदि शूद्र गृहस्थ भी कर सकता है । आगम में इससे किसी प्रकार की बाधा नहीं आती । और यदि किसी ने कुछ प्रतिबन्ध लगाया भी है, तो उसे सामयिक परिस्थिति को ध्यान में रखकर सामाजिक ही समझना चाहिए । आगम की मनसा इस प्रकार की नहीं है, यह सुनिश्चित है।

इस प्रकार शास्त्रीय प्रमाणों के प्रकाश में विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शूद्रों को श्री जिनमन्दिर में जाने और पूजन--पाठ करने का कहीं कोई निषेध नहीं है । महापुराण में इज्या आदि षट्कर्म करने का अधिकार जो तीन वर्ण के मनुष्यों को दिया गया है, उसका रूप सामाजिक है धार्मिक नहीं और उद्देश्य व अभिप्राय की दृष्टिसे सामाजिक विधि--विधान तथा धार्मिक विधि विधान में बड़ा अन्तर है, क्योंकि क्रिया एक प्रकार की होने पर भी दोनों का फल अलग--अलग है । ऐसी अवस्था में आचार्य जिनसेन द्वारा महापुराण में मौलिक दृष्टि से किये गये सामाजिक विधि विधान को आत्म शुद्धि में सहायक मानना तत्त्व का अपलाप करना है । यद्यपि इस दृष्टि से भगवत्भक्ति करते समय भी पूजक यह भावना करता हुआ देखा जाता है कि मेरे दुःखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, समाधिमरण हो, रत्नत्रय की प्राप्ति हो और मैं उत्तम गति जो मोक्ष है उसे प्राप्त करूँ । जलादि द्रव्य से अर्चा करते समय यह भी कहता है कि जन्म, जरा और मृत्यु का नाश करने के लिए मैं जल को अर्पण करता हूँ, आदि । किन्तु ऐसी भावना व्यक्त करने मात्र से यह क्रिया मोक्ष मार्ग का अगं नहीं बन सकती, क्योंकि जो मनुष्य उक्त विधि से पूजा कर रहा है, उसकी आध्यात्मिक भूमिका क्या है, प्रकृत में यह बात मुख्य रूप से विचारणीय हो जाती है ।

यदि भगवत्भक्ति करने वाला कोई व्यक्ति इस अभिप्रायः के साथ जिनेन्द्रदेव की उपासना करता है कि 'यह मेरा मौलिक धर्म है, मेरे पूर्वज इस धर्म का आचरण करते आये हैं, इसलिए मुझे भी इसका अनुसरण करना चाहिए। मेरा ब्राह्मण, क्षत्रिय

और वैश्य कुल में जन्म हुआ है, अतः मैं ही इस धर्म को पूर्ण रूप से पालन करने का अधिकारी हूँ । जो शूद्र हैं वे इस धर्म का उस रूप से पालन नहीं कर सकते, क्योंकि वे नीच हैं । यह मन्दिर भी मैंने या मेरे पूर्वजों ने बनवाया है, इसलिए मैं इसमें मेरे समान आजीविका करने वाले तीन वर्ण के मनुष्यों को ही प्रवेश करने दूँगा, अन्य को नहीं । अन्य व्यक्ति यदि भगवत्भक्ति करना ही चाहते हैं, तो वे मन्दिर के बाहर रहकर मन्दिर की शिखरों में या दरवाजों के चौखटों में स्थापित की गई जिन प्रतिमाओं के दर्शन कर उसकी पूर्ति कर सकते हैं । मन्दिरों के सामने जो मानस्तम्भ निर्मापित किये गये हैं, उनमें स्थापित जिन प्रतिमाओं के दर्शन करके भी वे अपनी धार्मिक भावना की पूर्ति कर सकते हैं । परन्तु मन्दिरों के भीतर प्रवेश करके उन्हें भगवत्भक्ति करने का अधिकार कभी नहीं दिया जा सकता ।' तो उसका यह अभिप्रायः मोक्ष मार्ग की पुष्टि में और उसके जीवन के सुधार में सहायक नहीं हो सकता । भले ही वह लौकिक दृष्टि से धर्मात्मा प्रतीत हो, परन्तु अन्तरंग धर्म की प्राप्ति इन विकल्पों के त्याग में ही होती है, यह निश्चित है । क्योंकि प्रथम तो यहाँ यह विचारणीय है कि लौकिक दृष्टि से की गयी यह क्रिया क्या संसार बन्धन का उच्छेद करने में सहायक हो सकती है ? एक तो ऐसी क्रिया में वैसे ही राग भाव की मुख्यता रहती है, क्योंकि उसके बिना अन्य पदार्थ के आलम्बन से प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए आगम में इसका मुख्य फल पुण्यबन्ध ही बतलाया है, संसार का उच्छेद नहीं । यदि कहीं पर इसका फल संसार का उच्छेद कहा भी है, तो उसे उपचार कथन ही जानना चाहिए । और यह स्पष्ट है कि उपचार कथन मुख्य का स्थान नहीं ले सकता । उपचार का स्पष्टीकरण करते हुए अन्यत्र कहा भी है–

मुख्याभावे सति प्रयोजने च उपचारः प्रवर्तते ।

आशय यह है कि मुख्य के अभाव में प्रयोजन विशेष की सिद्धि के लिए उपचार कथन की प्रवृत्ति होती है । इसलिए इतना स्पष्ट है कि अन्य पदार्थ के आलम्बन से प्रवृत्तिरूप जो भी क्रिया की जाती है, वह उपचार धर्म होने से मुख्य धर्म का स्थान नहीं ले सकता । यद्यपि यह हम मानते हैं कि गृहस्थ अवस्था में ऐसे धर्म की ही प्रधानता रहती है । किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि गृहस्थ मुख्य धर्म से अपनी चित्तवृत्ति को हटाकर इसे ही साक्षात् मोक्ष का साधन मानने लगता है । स्पष्ट है कि जब मोक्ष के अभिप्राय से किया गया, व्यवहार धर्म भी साक्षात् मोक्ष का साधन नहीं हो सकता । ऐसी अवस्था में जो आचार लौकिक दृष्टि से किया जाता है, वह धर्म का स्थान कैसे ले सकता है ? उसे तो व्यवहार धर्म कहना भी धर्म का परिहास करना है । अतएव निष्कर्ष रूप में यही समझना चाहिए कि धर्म में वर्णादिक के भेद

से विचार के लिए रञ्चमात्र भी स्थान नहीं है और यही कारण है कि जैन धर्म व्यक्ति की योग्यता के आश्रय से उसका विचार किया है, वर्ण और जाति के आश्रय से नहीं। जब यह वस्तुस्थिति है तो ऐसी अवस्था में अन्य वर्ण वालों के समान शूद्र भी जिन मन्दिर में जाकर जिनदेव की अर्चा वन्दना करें, यह मानना आगम सम्मत होने से उचित ही है ।

हिंसा और अहिंसा

"प्रमत्त योगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" इस सूत्र में प्रमत्त योग से प्राणों को विनाश करने को हिंसा बतलाया है । इससे ज्ञात होता है कि यद्यपि प्राणों का विनाश करना हिंसा है, पर वह प्रमत्त योग से किया हुआ होना चाहिए । जो प्राणों का विनाश प्रमत्त योग से अर्थात् राग–द्वेष प्रवृत्ति के कारण होता है वह तो हिंसा है शेष नहीं, यह इस सूत्र का तात्पर्य है । यहाँ प्रमत्त योग कारण है और प्राणों का विनाश कार्य है। आगम में प्राण दो तरह के बतलाये हैं–द्रव्य प्राण और भाव प्राण । प्रमत्त योग के होने पर द्रव्य प्राणों का विनाश होता ही है ऐसा कोई नियम नहीं है, हिंसा के अन्य निमित्त मिल जाने पर द्रव्य प्राणों का विनाश होता भी है और नहीं मिलने पर नहीं भी होता है । इस प्रकार कभी–कभी प्रमत्त योग के नहीं रहने पर भी द्रव्य प्राणों का विनाश देख जाता है । उदाहरणार्थ – साधु ईर्यासमिति पूर्वक गमन करते हैं। उनके रंचमात्र भी प्रमत्त योग नहीं होता, कदाचित् गमन करने के मार्ग में अचानक क्षुद्र जन्तु आकर और पैर से दबकर मर जाता है । यहाँ प्रमत्त योग के नहीं रहने पर भी प्राण व्यपरोपण है, इसलिए मुख्यतया प्रमत्त योग से जो भाव प्राणों का विनाश होता है वह हिंसा है, ऐसा यहाँ तात्पर्य समझना चाहिए ।

हिंसा का मथितार्थ

जैन आगम में हिंसा विकार का पर्यायवाची माना गया है । जीवन में जो भी विकार विद्यमान है उससे प्रतिक्षण आत्मगुणों का ह्रास हो रहा है। वह विकार भाव कभी–कभी भीतर ही भीतर काम करता रहता है और कभी–कभी बाहर प्रस्फुटित होकर उसका काम दिखाई देने लगता है। किसी पर क्रोध करना, उसको मारने के लिए उद्यत होना, गाली देना, अपमान करना, झूठा लांछन लगाना, सन्यास के विरुद्ध साधनों को जुटाना आदि उस विकार के बाहरी रूप हैं और आत्मोन्नति या आत्मोन्नति के साधनों से विमुख होकर राग–द्वेष रूप परिणति का होना, उसका आभ्यन्तर रूप है। ऐसे विकार भाव से आत्मगुणों का हनन होता है, इसलिए तत्त्वतः इसी का नाम हिंसा है।

मुख्यतया प्रत्येक की दृष्टि अपने जीवनके संशोधन की न होकर बाहर की ओर जाती है । वह इतना ही विचार करता है कि मैंने अन्य जीवों पर दया की, उन्हें नहीं मारा तो मेरे द्वारा अहिंसा का पालन हो गया । वह अपने जीवन का रंचमात्र भी संशोधन नहीं करता, भीतर छिपे हुए विकार भाव को नहीं देखता। इससे वह हिंसा

को करते हुए भी अपने को अहिंसक समझ बैठता है । जगत् में जो विश्रृंखलता फैली हुई है वह इसका प्रांजल उदाहरण है । तत्त्वतः भूल कहाँ हो रही है उसकी खोज होनी चाहिए । इसके बिना हिंसा से अपनी रक्षा नहीं हो सकती और न अहिंसा का मर्म ही समझ में आ सकता है ।

जीवन की सबसे बड़ी भूल ही हिंसा का कारण है

मनुष्य के जीवन में यह सबसे बड़ी भूल है, जिससे वह ऐसा मान बैठा है कि दूसरे का हिताहित करना मेरे हाथ में है । जिसने जितने अधिक बाहरी साधनों का संचय कर लिया है वह उतना ही अधिक अपने को शक्तिमान् अनुभव करता है। साम्राज्य–लिप्सा, पूँजीवाद, वर्गवाद और संस्थावाद इसका परिणाम है। ईश्वरवाद को इसी मनोवृत्ति ने जन्म दिया है । जगत् में बाहरी विषमता का बीज यही है । अतीत काल में जो संघर्ष हुए या वर्तमान में जो भी संघर्ष हो रहे हैं उन सबका कारण यही है । जब मनुष्य अपने जीवन में इस तत्त्व ज्ञान को स्वीकार कर लेता है कि अन्य से अन्य का हित या अहित होता है तब उसकी अंतर्मुखी दृष्टि फिर कर बहिर्मुखी हो जाती है । वह बाह्य साधनों के जुटाने में लग जाता है, उनके जुटाने में सफल होकर उसे अपनी सफलता मानता है । जीवन में बाह्य साधनों को स्थान नहीं है यह बात नहीं है किन्तु इसकी एक मर्यादा है । दृष्टि को अन्तर्मुखी रखते हुए अपने जीवन की कमजोरी के अनुसार बाह्य साधनों का आलम्बन लेना एक बात है किन्तु इसके विपरीत बाह्य साधनों को ही सब कुछ मान बैठना दूसरी बात है ।

तत्त्वतः प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र और अपने में परिपूर्ण है । उसमें जो भी परिवर्तन होता है वह उसकी अपूर्णता का द्योतक न होकर उसकी योग्यतानुसार ही होता है, इसलिए किसी भी पदार्थ को शक्ति का संचय करने के लिए किसी दूसरे पदार्थ की आवश्यकता नहीं लेनी पड़ती । निमित्त इतना बलवान नहीं होता कि वह अन्य द्रव्य में से कुछ निकाल दे या उसमें कुछ मिला दे । द्रव्य में न कुछ आता है और न उसमें कुछ जाता ही है । अनन्तकाल पहले जिस द्रव्य का जो स्वरूप था आज भी वह जहाँ का तहाँ और आगामी काल में भी वह वैसा ही बना रहेगा । केवल पर्याय क्रम से बदलना उसका स्वभाव है, इसलिए इतना परिवर्तन इसमें होता रहता है । माना कि यह परिवर्तन सर्वथा अनिमित्तक नहीं होता है, किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं कि निमित्ताधीन होता है । जैसे वस्तु की कार्य मर्यादा निश्चित है, वैसे सब प्रकार के निमित्तों की कार्य मर्यादा निश्चित है । धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य और आकाशद्रव्य – ये ऐसे निमित्त हैं जो सदा एक रूप में कार्य के प्रति निमित्त होते हैं।

धर्मद्रव्य सदा गति में निहित होता है। अधर्मद्रव्य स्थिति में निमित्त होता है । कालद्रव्य प्रति समय की होने वाली पर्याय में निमित्त होता है और आकाश द्रव्य अवगाहना में निमित्त होता है। इन द्रव्यों के निमित्तत्व की यह योग्यता निमित्त है । इसमें त्रिकाल में भी अन्तर नही आता। इन द्रव्यों का अस्तित्व भी इसी आधार पर माना गया है। किन्तु इनके सिवा प्रत्येक कार्य के प्रति जो जुदे–जुदे निमित्त माने गये हैं, वे पदार्थ के स्वभावगत कार्य के अनुसार ही निमित्त कारण होते हैं । वे अमुक ढंग से कार्य के प्रति निमित्त हैं ऐसी व्यवस्था उनकी निश्चित नहीं है । उदाहरणार्थ एक युवती एक ही समय में साधु के लिए वैराग्य के होने में निमित्त होती है और रागी के लिये राग के होने में निमित्त होती है । इसका यह अर्थ है कि जिस पदार्थ की जिस काल मे जिस प्रकार के स्वभावगत कार्यमर्यादा होती है, उसी के अनुसार अन्य पदार्थ उसके होने में निमित्त कारण होता है । इसलिए जीवन में निमित्त का स्थान होकर भी वस्तु की परिणति को उसके अधीन नहीं माना जा सकता । यह तात्विक मीमांसा है, जिसका सम्यग्दर्शन न होने के कारण ही जीवन में ऐसी भूल होती है जिससे यह दूसरे के बिगाड़–बनाव का कर्त्ता अपने को मानता है और बाह्य साधनों के जुटाने में जुटा रहता है। तात्विक दृष्टि से विचार करने पर इस परिणति का नाम ही हिंसा है। हमें जगत् मे जो विविध प्रकार की कषायमूलक वृत्तियाँ दिखलायी देती हैं वे सब इनके परिणाम है। जगत् की अशान्ति और अव्यवस्था का भी यही कारण है । एक बार जीवन में भौतिक साधनों ने प्रभुता पाई कि वह बढ़ती ही जाती है । धर्म और धर्मायतनों मे भी इसका साम्राज्य दिखलाई देने लगा है।

अधिकतर पढे–लिखे या त्यागी लोगो का मत है कि वर्तमान में जैन धर्म का अनुयायी राजा न होने के कारण अहिंसा धर्म की उन्नति नहीं हो पा रही है । मालूम पडता है कि उनका यह मत आन्तरिक विकार का ही द्योतक है । तीर्थंकरों का शारीरिक बल ही सर्वाधिक माना गया है, किन्तु उन्होंने स्वयं अपने जीवन में ऐसी असत्कल्पना नही की थी और न वे शारीरिक बल या भौतिक बल के सहारे धर्म का प्रचार करने के लिए उद्यत ही हुए थे । भौतिक साधनों के प्रयोग द्वारा किसी के जीवन की शुद्धि हो सकती है यह त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है । उन्माद से उन्माद की वृद्धि होती है । यह भौतिक साधनों का उन्माद ही अधर्म है । इससे आत्मा की निर्मलता का लोप होता है और वह इन साधनों के बल पर संसार पर छा जाना चाहता है। उत्तरोत्तर उसकी महत्वाकांक्षाएँ बढ़ती जाती है जिससे संसार में एकमात्र घृणा और द्वेष का प्रचार होता है । वर्तमान काल में जो विविध प्रकार के वाद दिखलाई देते हैं वे इसी के परिणाम हैं । संसार ने भीतर से अपनी दृष्टि फेर ली है । सब बाहर की ओर देखने लगे है । जीवन की एक भूल से कितना बड़ा अनर्थ हो रहा है यह

समझने और अनुभव करने की वस्तु है । यही वह भूल है जिसके कारण हिंसा पनपकर फूल—फल रही है ।

हिंसा के भेद व उसके कारण

शास्त्रकारों ने इस हिंसा के दो भेद किये हैं — भावहिंसा और द्रव्यहिंसा। भावहिंसा वही है जिसका हम ऊपर निर्देश कर आये हैं । द्रव्यहिंसा में अन्य जीव का विघात लिया गया है । यह भावहिंसा का फल है । इसलिए इसे हिंसा कहा गया है । कदाचित् भावहिंसा के अभाव में भी द्रव्यहिंसा होती हुई देखी जाती है, पर उसकी परिगणना हिंसा की कोटि में नहीं की जाती है । हिंसा का ठीक अर्थ आत्म—परिणामों की कलुषता ही है कदाचित् कोई जड़ पदार्थ को अपकारी मानकर उसके विनाश का भाव करता है और उसके निमित्त से वह नष्ट भी हो जाता है, वहाँ यद्यपि किसी अन्य जीव के द्रव्यप्राणों का नाश नहीं हुआ है तो भी जड़—पदार्थ को छिन्न—भिन्न करने में निमित्त होने वाला व्यक्ति हिंसक ही माना जायगा, क्योंकि ऐसे भावों से जो उसके आत्मा की हानि होती है, उसी का नाम हिंसा है ।

संसारी जीव के कषायमूलक दो प्रकार के भाव होते हैं — रागरूप और द्वेषरूप। इनमें से द्वेषमूलक जितने भी भाव होते हैं उन सबकी परिगणनाा हिंसा में की जाती है। कदाचित् ऐसा होता है कि जहाँ विद्वेष की ज्वाला भड़क उठने का भय रहता है, ऐसे स्थल पर उपेक्षा भाव के धारण करने की शिक्षा दी गयी है । उदाहरणार्थ — कोई व्यक्ति अपनी स्त्री, भगिनी, माता या कन्या का अपहरण करता है या धर्मायतन का ध्वंस करता है तो बहुत सम्भव है कि ऐसा करने वाले व्यक्ति के प्रति विद्वेष भाव हो जाय । किन्तु ऐसे समय में स्त्री आदि की रक्षा का भाव होना चाहिए, उसे मारने का नहीं । हो सकता है कि रक्षा करते समय उस व्यक्ति की मृत्यु हो जाय । यदि रक्षा का भाव हुआ तो वही आपेक्षिक अहिंसा है और मारने का भाव हुआ तो वही हिंसा है । मुख्यतया ऐसी हिंसा को ही संकल्पी हिंसा कहते हैं । कहीं—कहीं यह हिंसा अन्य कारणों से भी होती है जैसे शिकार खेलना आदि । सो इसकी परिगणना भी संकल्पी हिंसा में होती है । संकल्पी हिंसा उसका नाम है जो इरादतन की जाती है । कसाई आदि जो भी हिंसा करते हैं उसे भी इसी कोटि की हिंसा समझना चाहिए। मानाकि उनकी यह आजीविका है पर गाय आदि को मारते समय हिंसा का संकल्प किये बिना वध नहीं हो सकता, इसलिए वह संकल्पी हिंसा है। आरम्भी और संकल्पी हिंसा में इतना अन्तर है कि आरम्भ में गृह निर्माण करना, रसोई बनाना, खेती बाड़ी करना आदि कार्य की मुख्यता रहती है। ऐसा करते हुए जीव मरते हैं अवश्य, पर

इसमें सीधा जीवन को नहीं मारा जाता, पर संकल्प में जीव–वध की मुख्यता रहती है । यहाँ कार्य का श्रीगणेश जीव वध से ही होता है ।

रागभाव दो प्रकार का माना गया है – प्रशस्त और अप्रशस्त । जीवन शुद्धि के निमित्तभूत पदार्थों में राग करना प्रशस्त राग है और शेष अप्रशस्त राग है । है तो यह दोनों प्रकार का रागभाव हिंसा ही, परन्तु जब तक रागभाव नहीं छूटा है तब तक अप्रशस्त राग से प्रशस्त राग में रहना उत्तम माना गया है । इसी से शास्त्रकारों ने दान देना, पूजा करना, जिन मन्दिर बनवाना, पाठशाला खोलना, उपदेश करना, देश की उन्नति करना आदि कार्यों का उपदेश दिया है ।

जीवन में जिसने पूर्ण स्वावलम्बन को उतारने की अर्थात् मुनि धर्म की दीक्षा ली है, उसे बुद्धिपूर्वक सब प्रकार के रागद्वेष के त्याग करने का विधान है । क्योंक बुद्धिपूर्वक किसी भी प्रकार का रागद्वेष बना रहना जीवन की बड़ी कमजोरी है । इस दृष्टि से तो सब प्रकार के विकार भावहिंसा ही माने गये हैं । यही कारण है कि मुनि को सब प्रकार की प्रवृत्ति के अन्त में प्रायश्चित करना पड़ता है । किन्तु गृहस्थ की स्थिति इससे भिन्न है । उसका अधिकतर जीवन प्रवृत्तिमूलक ही व्यतीत होता है । वह जीवन की कमजोरी को घटाना चाहता है। जो कमजोरी शेष है उसे बुरा भी मानता है, पर कमजोरी का पूर्णतः त्याग करने में असमर्थ रहता है, इसलिए वह जितनी कमजोरी के त्याग की प्रतिज्ञा करता है उतनी उसके अहिंसा मानी गई है और जो कमजोरी शेष है वह हिंसा मानी गई है । किन्तु यह हिंसा व्यवहारमूलक ही होती है, अतः इससे इसका निषेध नहीं किया गया । पहले जिस आपेक्षिक अहिंसा की या आरम्भजन्य हिंसा की हम चर्चा कर आये हैं वह गृहस्थ की इसी वृत्ति का परिणाम है, यह हिंसा संकल्पी हिंसा की कोटि की नहीं मानी गयी है ।

अहिंसा के ऊपर किये गये आक्षेप का निषेध

कुछ लोग हिन्दुस्तान की परतन्त्रता का मुख्य कारण बौद्ध और जैनों की अहिंसा को बतलाते हैं । भा०वा०सन्त सा० लिखते हैं कि – "आज यदि संसार की प्रवृत्ति का स्थूल रूप से अवलोकन किया जावे तो बौद्ध और जैन लोगों के द्वारा मानी हुई अहिंसा को कहीं भी स्थान नहीं मिल सकता है यह स्वीकार करने में कुछ भी आपत्ति नहीं मालूम पड़ती है । प्रसंग आने पर समरांगण में अपने शत्रु के साथ युद्ध करते हुए अपने देश और धर्म की रक्षा करने के लिए यदि हजारों मनुष्यों की हिंसा हुई तो भी वह क्षात्र धर्म के विरुद्ध नहीं है । जब तक क्षत्रिय और वीर जातियों की ऐसी कल्पना थी तब तक विदेशी लोगों द्वारा अपने देश के ऊपर आक्रमण होने पर अपने

देश के वीर लोग उनके साथ युद्ध करके जय संपादन करते थे, इतना ही नहीं यदि आपस में वैमनस्य भी हुआ तो भी देश के ऊपर आपत्ति आने पर वे लोग वैमनस्य को भूलकर देश का रक्षण करते थे । परन्तु जैसे–जैसे बौद्ध धर्म का प्रसार बढ़ता गया वैसे–वैसे क्षत्रिय और दूसरी जातियों की वीरवृत्ति कम होती गई और उसका परिणाम हुआ कि अशोकादिक राजाओं के द्वारा अहिंसा की घोषणा सम्पूर्ण देशों में करने पर शत्रुओं के साथ लड़ते हुए हिन्दू राजाओं का एक सरीखा पराभव होता गया जिसके परिणाम स्वरूप सम्पूर्ण देश परतन्त्र हो गया । अपनी खुशी से स्वीकार किये हुए इस निःशस्त्रीकरण के लिए जैन धर्म का प्रसार भी कारण हुआ । परमेश्वर ने मनुष्य के शरीर में जो तामसवृत्ति निर्माण की है उसका योग्य प्रमाण में और योग्य समय के ऊपर यदि उपयोग नहीं किया तो तामसी जगत में आत्मसंरक्षण करना अत्यन्त कठिन हो जायगा "

इस प्रकार श्री सन्त के लिखे हुए लेख का अच्छी तरह से मनन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दुस्तान की परतन्त्रता और कायरता का कारण जैन धर्म द्वारा स्वीकार की हुई अहिंसा भी है । उनके मत से अहिंसा और कायरता में कुछ भी अन्तर नही मालूम पड़ता है । यदि एक मनुष्य आपत्ति के समय किसी दूसरे मनुष्य की रक्षा करता है अथवा वह बिना कारण किसी को संकट में नहीं डालता है तो उनके मत से वह सबसे बड़ी भयंकर कायरता करता है । यदि श्री सन्त सा० का लिखने का यह अभिप्राय न होकर किसी के बिना कारण अपने देश के ऊपर आक्रमण करने पर स्वतः के और देश के रक्षण करने के लिए हमें घोरतम हिंसा भी करनी पड़े तो भी वह क्षम्य है यह हो तो इससे जैन धर्म के अहिंसा तत्त्व का ही समर्थन होता है । जैन धर्म में अहिंसा का प्रतिपादन करते हुए यही तत्त्व आगे रक्खा गया है – इससे आत्मसंरक्षण भी होता है और बिना कारण दूसरे की हानि भी नहीं होती है। परन्तु सन्त सा० का इस साधारण तत्त्व के ऊपर ध्यान नहीं गया हो यह बात नहीं, परन्तु उनके इस आक्षेप का अर्थ अपने पड़ोसी के ऊपर दोषारोपण करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कहा जा सकता है । यदि वे निष्पक्षता के साथ अपने देश के पूर्वोतिहास का निरीक्षण करें तो यह सिद्ध करने में थोड़ी भी कठिनता नहीं हो सकती कि हमारे देश के पतन और परतन्त्रता का कारण अहिंसा न होकर कुछ देशद्रोही जयचन्द सरीखे मनुष्यों की काली करतूत ही है । इस काम में संस्कृति के संघर्ष और ईश्वरवाद ने भी बहुत कुछ मदद की है । जिस संस्कृति ने "मूर्ख यह प्राणी अपने सुख और दुःख का स्वामी न होकर उसके सुख और दुःख का स्वामित्व ईश्वर की मर्जी के ऊपर है" इस सिद्धान्त की घोषणा की और संसार को उसी का

पाठ पढ़ाया। लेखक महाशय उस संस्कृति को तो आँखें मींचकर स्वीकार करते हैं परन्तु विकारी भावों का विश्लेषण करके सात्विक आत्मवृत्ति की द्योतक स्वतन्त्रता रूप अहिंसा के ऊपर इस पाप के घड़े के फोड़ने का व्यर्थ ही असफल प्रयत्न करते हैं। फिर भी यह निर्विवाद सत्य है कि जैन धर्म की अहिंसा यदि उसका पालन करने वाला विजेता हो तभी उसको अहिंसक की कोटि में स्वीकार करती है उसे परचक्र का आक्रमण थोड़ा भी सहन नहीं होता है । परचक्र का अस्तित्व ओर अहिंसक भाव इन दोनों विरोधी तत्त्वों के लिए जैन धर्म में प्रतिपादन की हुई अहिंसा में स्थान नहीं है। जो कायर होकर दूसरे की स्वाधीनता स्वीकार करता है वह अपने विरोधी शत्रुओं को कैसे जीत सकता है, इसके लिए तो उसे पूर्ण स्वतन्त्रता का भोक्ता ही होना पड़ेगा। हाँ ! यह सत्य है कि जैन धर्म की अहिंसा शत्रु के ऊपर विजय तामसिक वृत्ति से न स्वीकार करके पूर्ण सात्त्विक वृत्ति से संपादन करने का पाठ पढ़ाती है । उसका यह सबसे प्रथम पाठ है कि तुम अपने विकारी स्वार्थों की पुष्टि के लिए दूसरों के ऊपर आक्रमण न करके विकारी स्वार्थों के नाश करने के लिए दूसरों के ऊपर आक्रमण करके विजय संपादन करो । ऐसा करते हुए कभी–कभी अपने आत्मीयजनों के साथ भी विरोध करना पड़ता है, परन्तु वहाँ पर भी हमें अपने आत्मीयजनों को भूलकर विकारी भावों को ही अपने विरोध का लक्ष्य बनाना चाहिए । इस तरह यदि पूर्ण सात्त्विक भावों से विरोधी शक्ति के साथ संघर्ष करते हुए हम व्यवहारी जगत् में एक बार असफल हुए भी दीखें तो भी हमारी उस असफलता में ही सफलता का तत्त्व छिपा हुआ है, यह बात संसार के किसी भी न्याय–युद्ध से सिद्ध की जा सकती है ।

जैन धर्म की अहिंसा की इस प्रकार तात्त्विक भूमिका होने पर भी हमें संत सा० के इस आक्षेप का कि "जैन धर्म की अहिंसा देश की पराधीनता का कारण हुई" उत्तर उसके व्यवहार रूप को सामने रख कर दे देना और भी उचित प्रतीत होता है । कारण किसी भी सिद्धान्त के कितने ही सुन्दर होने पर उसके अनुयायी यदि उसका उचित पालन न करके विकृत तत्त्व को स्वीकार कर लें तो उससे लाभ के स्थान में हानि की अधिक संभावना रहती है। परन्तु इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमें अतीत भारत को सम्पन्न भारत और आपत्तिग्रस्त भारत – इस प्रकार दो अवस्थाओं में विभाजित करना होगा। सम्पन्न भारत से मतलब स्वशासित भारत से है और आपत्तिग्रस्त से मतलब है परशासित अथवा दूसरे देशों में उत्पन्न हुई संस्कृति के द्वारा शासित भारत से है। इनमें से भारत जिस समय स्वशासित था उस समय हिन्दुस्तान में उत्पन्न हुई दूसरी संस्कृतियाँ इस देश के वैभव को बढ़ाने में जितनी कारण हुई उससे कहीं अधिक जैन संस्कृति इस देश की अभिवृद्धि का कारण हुई। स्वशासित भारत में दूसरी

संस्कृतियों के लांछनरूप कारनामें जिस प्रकार प्रकट किये जा सकते हैं वह बात जैन संस्कृति में ढूँढने को भी नहीं मिल सकती है । इसकी आध्यात्मिक भूमिका स्वतन्त्र होते हुए भी अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए इसने दूसरी संस्कृतियों के ऊपर कभी भी आक्रमण नहीं किया । परन्तु यह बात दूसरों के सम्बंध में नहीं कही जा सकती है इसके लिए साक्षी इतिहास है । रह गई आपत्तिग्रस्त भारत की बात सो हमारे देश के ऊपर आपत्ति कैसे आई उसमें हाथ किसका था इस बात का यदि सन्त सा० विचार करें तो उन्हें जैन धर्म की अहिंसा के ऊपर आक्षेप करने के लिए स्थान ही नहीं रहता है । आज ऐसे भी ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद हैं जिनसे यह सिद्ध किया जा सकता है कि जैनेतर संस्कृति में उत्पन्न हुए और उसी के अभिमानी मनुष्य जिस समय हिन्दुत्व की विरोधी संस्कृति का सब तरह से सहायता कर रहे थे उसी समय जैन संस्कृति में उत्पन्न हुए और उसी के अभिमानी नरश्रेष्ठ केवल जैन संस्कृति के लिए नहीं किन्तु अपनी पड़ोसिनी दूसरी संस्कृतियों की रक्षा के लिए सहायक हुए। इतना ही नहीं उनके सत्प्रयत्न और सर्वस्व अर्पण करने से उनकी रक्षा हुई । रह गई बौद्धों के अहिंसा के ऊपर आक्षेप करने की बात सो इसका बौद्ध धर्मानुयायी जितना उचित उत्तर दे सकता है उतना यद्यपि मैं नही दे सकता हूँ । फिर भी अपने देश की पूर्व परंपरा का अध्ययन करने से इतना हम भी लिख सकते हैं कि हमारे देश में एक ऐसा वर्ग था जो बौद्ध संस्कृति के नाश करने के लिए जी जान से प्रयत्न करता रहा । जिससे देश की संपूर्ण शक्ति गृहकलह में बँट जाने के कारण ही भारत को परतन्त्रता के दिन देखने पडे। रह गई उनकी अहिंसा से कायरता की बात सो इसके लिए हम सन्त सा० को जापान की याद दिला देना ही पर्याप्त समझते हैं । संभव है सन्त सा० जापान के बढ़ते हुए वैभव और कीर्ति स्मरण करके व्यर्थ ही अहिंसा के ऊपर संस्कृति भेद से उत्पन्न हुई अपनी मानसिक कलुषता को नहीं प्रकट करेंगे ।

शिक्षा और धर्म का मेल

जैन समाज में धार्मिक शिक्षण संस्थाओं का सब जगह प्रसार है। धार्मिक शिक्षण के नाम पर समाज का भी बहुत कुछ पैसा खर्च होता है । परन्तु इन संस्थाओं से निकलने वाले शिक्षितों की मनोभूमिका कैसी रहती है इस ओर बहुत ही कम लक्ष्य दिया जाता है । इसका सबसे प्रधान कारण तो यह है कि इन संस्थाओं का खर्च चलाने वाली समाज ही आज उन संस्थाओं की मालिक है । इसलिए मालिक और नौकर में जो व्यवहार होना चाहिये या मालिक का नौकर के साथ आज कल जो व्यवहार चालू है प्रायः इसी भूमिका को लेकर हमारे शिक्षित तैयार होते हैं । इसलिए जगह–जगह पर शिक्षितों में मानसिक दुर्बलता नजर आती है । ऐसे एक नहीं अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनसे इस बात की पुष्टि बहुत ही अच्छी तरह होती है । जो शिक्षित इस मनोभूमिका को छोड़कर काम करते हैं उन्हें सब जगह धक्के खाने पड़ते हैं या उन्हें समाज रचना की सबसे निकृष्ट स्थिति में रहकर अपना जीवन व्यतीत करना पडता है । सच पूछा जाये तो धर्मज्ञ विद्वान इतना आदर्श होना चाहिये जिससे समाज के ऊपर सबसे अधिक प्रभाव रहे। परन्तु यह बात लिखने में जितनी सरल है प्रत्यक्ष व्यवहार में उसका उपयोग उतना ही कठिन है । एक तो समाज ही अपने इस अधिकार को छोडने के लिये तैयार नहीं हो सकती । दूसरे विद्वानों में संघ शक्ति निर्माण होकर अपने कर्तव्य का ज्ञान नहीं हुआ है ।

समाज की इच्छा

इस विषय में समाज या समाज के नेताओं की यह भावना रहती है कि आजकल जो कुछ भी थोडी बहुत जागृति दिखायी देती है उसका कारण हमारा पैसा है इसलिए हमारी इच्छा के अनुसार काम करना विद्वानों का कर्तव्य ही है। समाज यह नहीं चाहती है कि विद्वान् स्वतंत्र होकर धर्म और समाज का काम करें और हम निस्पृहता से उनके सहायक हों । कोई भी तटस्थ व्यक्ति, जहाँ पर स्थानीय या प्रादेशिक पाठशालायें चालू हैं – जाकर इस बात का अनुभव कर सकते हैं कि उन पाठशालाओं के अध्यापकों को समाज को प्रसन्न रखने के लिए सबसे अधिक प्रयत्न करना पड़ता है। इससे हमारे शिक्षितों का सबसे अधिक समय या तो चापलूसी में व्यतीत होता है या अपनी आजीविका को स्थिर रखने के लिए उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य से विमुख रहने में ही निकल जाता है। समाज की इच्छा भी इससे अधिक नहीं रहती है । उसको ऐसा विद्वान् सबसे अधिक प्रिय मालूम पड़ता है जो स्वतन्त्रतापूर्वक अपने जीवन को व्यतीत करता है।

विद्वानों की मनोवृत्ति

अपनी इस जघन्य स्थिति में समय व्यतीत करने में शिक्षित कुछ कम दोषी नहीं हैं । उनका शिक्षण भी विशाल और उदात्त मनोभूमिका को सामने रखकर नहीं होता है । कोई व्यक्ति किसी शिक्षण संस्था में जाकर रहे तो उसे आज के शिक्षितों की मनोभूमिका का उसी समय पता लग सकता है । वहाँ न तो धार्मिकता के ही पाठ पढ़ाये जाते हैं और न समाजोत्थान के । वहाँ पुस्तकी ज्ञान के रूक्ष वातावरण के अतिरिक्त किसी को और कुछ भी दिखाई नहीं देगा । केवल धार्मिक पुस्तकों के पढ़ लेने से ही धार्मिकता और समाजोत्थान की भावना जागृत नहीं हुआ करती है इसके लिए दूसरे प्रकार के वातावरण की आवश्यकता लगती है जिसका हमारी शिक्षण संस्थाओं में बिल्कुल ही अभाव है ।

हमारी शिक्षण संस्थाओं में जो अधिकारी होते हैं वे प्रायःकर शिक्षण के ज्ञाता न होकर अशिक्षित ही हुआ करते हैं । इसलिये उनका शिक्षण संस्थाओं की अन्तरंग व्यवस्था पर बिल्कुल ही ध्यान नहीं जाता है । उनकी सबसे बड़ी चिंता बजट की पूर्ति ही रहती है । वे इसका थोड़ा भी विचार नहीं कर पाते कि इस संस्था से बालकों के ऊपर क्या परिणाम होता है । इसमें और क्या सुधार करना चाहिये जिससे इन संस्था से निकले हुए बालक प्रखर विद्वता के साथ समाज के नेता बनें । इस व्यवहार का बालकों के ऊपर जो परिणाम होना चाहिये वही होता है और वे भी अपने समय को 'इसको वजीफा अधिक मिलता है मुझे कम मिलता है,' इत्यादि क्षुद्र बातों में व्यतीत कर देते हैं ।

उन्हें अपनी बौद्धिक और मानसिक शक्ति को बढ़ाने के लिए थोड़ा भी अवसर नहीं मिलता। सभा सोसाइटियों में कभी यदि विद्यार्थी भाग भी लेते हैं तो वहाँ पर रूक्ष विषय रखे जाते हैं जिनका उनके जीवन से विशेष कुछ सम्बन्ध नहीं होता है। अध्यापकों का काम क़िताबी शिक्षण के देने में और सुपरिन्टेन्डेन्ट का काम रजिस्टर हाजिरी के भरने में ही पूरा हो जाता है । यह दोष केवल कर्मचारियों का ही हो यह बात नहीं है । संस्थाओं की रचना ही इस ढंग से की गई है कि वहाँ पर दूसरे विषयों के विचार के लिए गुंजाईश ही नहीं है । सरकारी संस्थाओं और इन धार्मिक संस्थाओं मे यदि थोड़ा बहुत भेद कहा जा सकता है तो केवल इतना ही कि सरकारी संस्थाएँ सरकार के नियंत्रण में चालू हैं और ये संस्थाएँ समाज के नियंत्रण में चलायी जाती हैं । उनकी कार्य पद्धति में कोई अन्तर नहीं दिखायी देता है । जिस प्रकार सरकारी संस्थाओं से गुलामवृत्ति के और स्वाभिमान को खोये हुए शिक्षित तैयार होते हैं वही

स्थिति तो आज हमारी धार्मिक संस्थाओं की है । इससे न तो समाज की ही भूख लग सकती है और न धर्म के सम्बन्ध में कोई ठोस काम ही हो सकता है, ऐसी संस्थाओं से निकलने वाले विद्वानों की मनोवृत्ति यदि दुबली हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

शिक्षण की कमजोरी

संस्थाओं में छात्रों को जिन ग्रन्थों के आधार से शिक्षण दिया जाता है वे ग्रन्थ प्रौढ़ और तात्विक विवेचन करने वाले हुए तो भी केवल इतने से ही विद्यार्थियों की बुद्धि में प्रौढ़ता थोड़े ही आ सकती है । जहाँ तक अनुभव में तो यही आता है कि दर्शनशास्त्र के उच्च ओर आदर्श ग्रन्थ अष्टसहस्त्री जैसे ग्रन्थों का अध्ययन किया हुआ भी विद्यार्थी दर्शन शब्द की समग्र व्याख्या करने में असमर्थ ही ठहरता है । इसका कारण क्या है, इधर हमारी शिक्षण संस्थाओं का बिल्कुल ही ध्यान नहीं जाता है । मनुष्य एक प्रयोग में असफल हो जाने पर भी उसमें वह सुधारणा करता है परन्तु हमारी संस्थाओं में इस ओर बिल्कुल ही ध्यान नहीं दिया जाता है । यही कारण है कि शिक्षण की कमजोरी विद्यार्थियों के शिक्षण संस्था को छोड़कर कार्य क्षेत्र में आ जाने पर भी अंत तक खटकती रहती है । हमें अपने धर्मग्रन्थों का और उसकी विवेचन पद्धति का अभिमान होना चाहिये परन्तु विद्यार्थी प्रतिपाद्य विषय को अधिक से अधिक किन तरीकों से हृदयंगम कर सकेगा इस ओर ध्यान देना और तदनुकूल साधन सामग्री का एकत्रित करना भी तो अत्यंत जरूरी है नहीं तो शिक्षण का निकम्मापन शिक्षितों के हृदयों को खोखला किये बिना नहीं रहेगा ।

आज की भूख

आज कल विद्वानों का सम्बन्ध केवल अपने धर्म और समाज से ही न होकर उसका क्षेत्र बढ़ रहा है । एक समय था जबकि मनुष्य की भावनाएँ प्रादेशिक या अपनी संस्कृति के अन्दर रहते हुए भी उनका काम चल जाता था। परन्तु आज केवल उतनी भावनाओं से कोई भी समाज या धर्म आगे आने का प्रयत्न करे तो यह उसका अट्टहास होगा। आज हमें परस्पर की कलह के कारणों की मीमांसा को छोड़कर रचनात्मक कार्यों की ओर अधिक लक्ष्य देना होगा। आज प्रत्येक जाति रचनात्मक कार्यों में ही अपनी शक्ति का व्यय करके अपनी संस्कृति को सुदृढ़ करने में लगी हुई है । विरोध या मतभेद केवल जैन समाज में ही है ऐसा थोड़े ही है । इसका कटुफल तो प्रत्येक समाज को भोगना पड़ रहा है । परन्तु दूसरी समाज के विचारशील शिक्षितों ने अपने दृष्टिकोण को बिल्कुल ही बदल दिया है । वे देख रहे हैं कि आज के जमाने से हमारी संस्कृति का मेल कैसे बैठेगा । उन्हें और बातों की चिंता की अपेक्षा आज के जमाने

में अपनी संस्कृति को सर्वोत्कृष्ट सिद्ध करने की सबसे अधिक चिंता है । परन्तु यह बात केवल संस्कृति के गुणानुवाद से कभी भी पूरी नहीं हो सकती है। इसके लिए हमें अपनी संस्कृति में से उच्च आदर्श रूप साधारण तत्त्व ढूंढ निकालने होंगे जिसका बहुजन समाज के ऊपर प्रयोग करने पर अनुकूल परिणाम सिद्ध होगा । यदि जैन विद्वान् इस कार्य को कर सकें तो संभव है कि उनकी संस्कृति का बहुत कुछ अंश सारी समाजें आत्मसात् कर सकती हैं। यही तो आज की भूख है। परन्तु यह कब हो, जबकि हमारी शिक्षण संस्थाओं में सुधार किया जावे । शिक्षण संस्थाओं के संचालक योग्य विद्वान् नियुक्त किये जावें । पूंजीपतियों का काम केवल द्रव्य खर्च करने का हो और शिक्षितों का काम उनमें योग्य सुधार का।

जब हम इतना कर सकेंगे तभी यह कहा जा सकता है कि हमने धर्म कल्पवृक्ष की मूल को पानी सींचने का काम किया। इसके बिना हम धर्म की सच्ची उपासना से कितनी दूर हैं यह बारीकी से विचार करने वाले व्यक्ति को उसी समय मालूम पड़ सकता है। मन्दिरों में हमे धर्म का शिक्षण मिलता है परन्तु उसका केवल परलोक से ही सम्बन्ध है। हमें अपने जीवन में विशेषता उत्पन्न करने के लिए इन शिक्षालयों के शिक्षण की ही आवश्यकता है । समाज सुधार और संस्कृति का पोषण यह काम केवल शिक्षितों के द्वारा ही हो सकता है । इसलिये समाज का कर्तव्य है कि उसे योग्य शिक्षित निर्माण करने के लिए इन धर्म दिनों में प्रतिज्ञा करनी चाहिये । धर्मायतन समझकर मंदिरों की व्यवस्था की ओर जितना ध्यान दिया जाता है उतना ही ध्यान इन शिक्षालयों की ओर देने की आवश्यकता है । धर्म, शिक्षित और समाज का सुधार इसी प्रकार हो सकता है । बाकी सब स्वांग ही समझना चाहिये ।

सेवाव्रत

'सेवा' करना सरल है पर 'सेवाव्रत' साधना की वस्तु है । पेट के लिए नौकरी–चाकरी करने वाले असंख्य लोग हैं । ये उचित अनुचित का विवेक किये बिना मात्र अपने तुच्छ स्वार्थ की सिद्धि के लिए 'जी–हुजूरी' करते रहते हैं। इन पेट पालू लोगों को सेवाव्रती नहीं कहा जा सकता क्योंकि सेवा का जो आनन्द और अहिंसा की भूमिका है वह इन आत्मविस्मृत जीवों को प्राप्त नहीं है ।

सेवा धर्म और सेवाव्रत की भावना उस उच्च मानवता में पनपती है जहाँ अपने आत्मत्व का दायरा विस्तृत, विस्तृततर और विस्तृततम होता जाता है । हम अपने बच्चों को प्यार इसलिए नहीं करते कि वे बच्चे हैं, किन्तु "अपने" हैं। दूसरे के बच्चे को ताँगे से कुचल जाने पर भी हम लापरवाही से बिना किसी अनुकम्पन के चले जाते हैं, यदि उसकी जगह 'अपना' बच्चा होता तो हमारे होश ही गायब हो जाते और ऐसी बेचैनी पैदा होती जिसे दूर करने के लिए यदि अपने को मिटाने तक का अवसर आता तो भी पीछे नहीं हटते । यह अनुकम्पा (काँपते हुए को देखकर हृदय में कँपकँपी उत्पन्न होना) सच पूछा जाये तो स्वयं कँपकँपी बेचैनी मिटाने के लिए ही की गयी है। पर होता तभी है जब सामने वाले में 'आत्मसमत्व' की बुद्धि हो । तो, अपने बच्चे को उठाने की भावना इसलिए हुई कि 'अपना' है। यह जरूरी नहीं है कि प्रत्येक मनुष्य में यह स्वाभाविक ही हो । ऐसे भी निकृष्ट स्वार्थियों की कमी नहीं है जो अपने बच्चों की आँख बचाकर रसगुल्ला गप्प कर जाते हैं, और ऐसे ही नरपशुओं के मुँह से श्लोक नीति का रूप लेकर निकला है–

"आपदर्थे धनं रक्षेत् दारान् रक्षेत् धनैरपि ।

आत्मान सततं रक्षेत् दारैरपि धनैरपि ।।

अर्थात् आपत्ति के लिए धन बचावें । धन देकर स्त्री की रक्षा करें । पर अपनी रक्षा धन और स्त्री दोनों से करें ।

नारी जाति और धन का ठीकरा दोनों इन नर राक्षसों के लिये बराबर हैं । ऐसे ही नर राक्षस पुरुषोत्तम राम को भी यह सलाह देने पहुँचे थे कि– 'जाने दीजिए एक सीता को, हजार सीता मिल जायेंगी । एक स्त्री के लिए इतनी परेशानी और युद्ध क्यों ? पर अहिंसा और कर्त्तव्य की जीवन्त मूर्ति राम ने उस समय यही कहा था, 'मूर्खो, यह सीता का प्रश्न नहीं है, यह आत्मा का प्रश्न है । मानवता और कर्त्तव्य

का प्रश्न है । यदि सीता की रक्षा के लिए त्रैलोक्य और अन्ततः अपना भी बलिदान करना पड़े तो भी राम करेगा । जीवित रहकर आत्महत्या, आत्मपराभव और मानवता का निर्दलन राम नहीं देख सकता । जिन्हें इसके प्रति जीवन्त श्रद्धा हो वे हमारे साथ रहें, दूसरे खुशी से चले जायँ । आज 'राम' का नाम उसी कर्मनिष्ठा और अहिंसा का प्रतीक बन गया ।

तात्पर्य यह है कि सेवाव्रत के लिए हमें अपने 'आत्मत्व' के दायरे को पुत्र, स्त्री, परिवार, नगर, प्रान्त और देश के छोटे–बड़े दायरों को पार कर क्रमशः निरुपाधि मानवता तक बढ़ाना होगा। इतना ही नहीं पशु जगत् और प्राणिमात्र तक को हमें अपने आत्मौपम्य के पुण्यसागर में समाना होगा । भीतर के संकुचित स्वार्थ का दमन किये बिना यह भूमिका नहीं आ सकती । अतः सेवाव्रती और सेवाधर्मी को प्रेम, दया, सहानुभूति, संवेदन, सहिष्णुता, स्नेह, क्षण, वत्सलता, पर दुःख–कातरता आदि अहिंसा परिवार को जीवन में विकसाना होगा । इसीलिए कहा है –

"सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः"

सेवा धर्म परमगहन है, वह योगियों के लिए भी अगम्य है । अपने लिए कौआ भी जीता है, पर मानव तो वह है जिसके 'स्व' का क्षेत्र अपने से आगे भी विस्तृत हुआ हो। आज देश के लिए कुछ ऐसे ही सेवकों की आवश्यकता है जो सेवा सेवा के लिए करने वाले हो । स्व० विश्व कवि रवीन्द्रनाथ से किसी ने पूछा कि "धर्म किसलिए किया जाय ?" उन्होंने कहा कि 'किसलिये' को समाप्त कर धर्म धर्म के लिए, अर्थात् बिना किसी कामना के, किया जाने वाला है। धर्म आत्मानन्द है, वह स्वयं साध्य और साधन है । जिसका सेवा के पीछे कोई अन्य हेतु है वह सेवावृत्ति या सेवा धर्म नहीं" ।

आशा है हमारा समाजसेवी और देशसेवी वर्ग सेवाधर्मी और सेवाव्रती बनने का प्रयत्न करेगा ।